भारत की खोज

(संक्षिप्त संस्करण)

अतिरिक्त पठन योजना

भारत की खोज

(संक्षिप्त संस्करण)

जवाहरलाल नेहरू

संपादन और अनुवाद

निर्मला जैन

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

जुलाई 1996
आषाढ़ 1918
PD 15T-RP

आवरण : *अमित श्रीवास्तव*

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग
नई दिल्ली 110016

108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे हेली
एक्सटेंसन, बनाशंकरी III इस्टेज
बैंगलूर 560085

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380014

सी.डब्ल्यू.सी. कैम्पस
32, बी. टी. रोड, सुखचर
24 परगना 7431179

रु. 35.00

प्रकाशन प्रभाग में, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा न्यू ऐज प्रिंटिंग प्रेस, 4-ई, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-110 005 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को बेहतर इंसान बनाना है। शिक्षा मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, भावात्मक व नैतिक दिशा में विकास करके उसे एक संपूर्णता प्रदान करती है। हमारी शिक्षा व्यवस्था में ऐसा तभी संभव हो पाएगा जब बच्चों में पूर्व-प्राथमिक स्तर से ही ऐसे मूल्यों की पौध लगाई जाए, जिससे वे बौद्धिक और काल्पनिक क्षमताओं का विकास करना सीखने लगें।

परिषद् बच्चों में अध्ययन की क्षमता व रुचि दोनों का ही विकास करने के लिए सदा तत्पर रही है और समय-समय पर इस क्षेत्र में विभिन्न प्रयास व नए-नए प्रयोग करती रहती है। पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों के प्रकाशन से भिन्न परिषद् ने बच्चों में अध्ययन की प्रवृत्ति के विकास के लिए समय-समय पर पूरक अध्ययन सामग्री तथा उसके अंतर्गत प्रयोगात्मक स्तर पर कई पुस्तक मालाएँ व परियोजनाएँ शुरू की हैं। उन सभी प्रयासों का मूल उद्देश्य है बच्चों की पुस्तकों से दोस्ती कराना।

पूरक अध्ययन सामग्री के प्रकाशन को इस विचार ने जन्म दिया कि बच्चों को पाठ्यपुस्तकों की एकरसता से इतर कुछ ऐसी अध्ययन सामग्री भी दी जानी चाहिए जो कथ्य और कलेवर दोनों ही पक्षों में समृद्ध हो। साथ ही परोक्ष रूप से उन तक वांछित मानवीय मूल्य भी पहुँचाती हो। इसी दिशा में बढ़ाया गया एक और कदम है 'अतिरिक्त पठन योजना'।

इस योजना के अंतर्गत प्रकाशित पुस्तकें अपने बालक पाठकों को भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं तथा विज्ञान व अन्य विषयों की जानकारी देने के साथ ही साहित्यिक व कलात्मक विरासत से उनका परिचय कराती हैं। इन पुस्तकों से उन्हें विभिन्न कार्य क्षेत्रों के विद्वानों व महापुरुषों के व्यक्तित्व व कृतित्व दोनों का सम्यक् ज्ञान भी प्राप्त होता है।

इस योजना को समय-समय पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र के अवकाश प्राप्त अध्यक्ष प्रो. नामवर सिंह का विशेष मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है। जिसके लिए परिषद् उनकी आभारी है। सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के अध्यक्ष प्रो. अर्जुन देव ने इस योजना को नई दिशा प्रदान करने में अपना अमूल्य योग दिया है। प्रो. रामजन्म शर्मा ने इस योजना के अंतर्गत प्रकाशित होने वाली पुस्तकों का संयोजन किया एवं पांडुलिपियों को अंतिम रूप प्रदान किया। मैं इन सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इसी योजना के अंतर्गत अब "भारत की खोज" पुस्तक तैयार की गई है जिसके सम्पादन व अनुवाद का उल्लेखनीय कार्य प्रो. निर्मला जैन ने किया है।

परिषद् श्रीमती सोनिया गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू स्मारक निधि के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

इस योजना के अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकों को और भी उपयोगी बनाने की दिशा में दिए गए हर सुझाव का परिषद् स्वागत करेगी।

अशोक कुमार शर्मा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

सम्पादन और अनुवाद

जवाहरलाल नेहरू ने तीन कालजयी कृतियों की रचना की : 'विश्व-साहित्य की झलकियाँ', 'आत्मकथा' और 'भारत की खोज'। इनमें से पहली कृति की रचना यद्यपि इंदिरा गांधी (तब इंदिरा नेहरू) के लिए की गई थी परन्तु उससे भारत ही नहीं विश्व के युवा मानस को मानव के इतिहास को समझने की दृष्टि मिली। उसी तरह जैसे उनकी 'आत्मकथा' व्यक्ति-विशेष की जीवन-कथा मात्र नहीं है, बल्कि उससे नए भारत की मानसिक बनावट को समझने की अन्तर्दृष्टि मिलती है।

'भारत की खोज' की प्रस्तावना में इंदिरा गांधी ने कहा है कि "इस रचना में भारत के राष्ट्रीय-चरित्र के स्रोतों की गहरी पड़ताल की गई है।"

'भारत की खोज' की रचना 1944 में अप्रैल-सितम्बर के बीच अहमदनगर के किले की जेल में हुई। यह पुस्तक 9 अगस्त 1942 से 28 मार्च 1945 के बीच के अपने साथियों और सहबंदियों को समर्पित की गई है। तिथियों का यह चुनाव संयोग भर नहीं है बल्कि उस दौर की घटनाओं के प्रति नेहरू के गहरे सरोकार की ओर इशारा करता है।

पुस्तक की भूमिका में नेहरू ने कारावास के अपने इन साथियों को बहुत सम्मान से स्मरण किया है। कारावास के जीवन की कठिनाइयां और कष्टों के बावजूद उन्होंने असामान्य रूप से योग्य और सुसंस्कृत इन व्यक्तियों के साहचर्य को अपना सौभाग्य माना। इस संदर्भ में नेहरू ने अहमदनगर के कारावास में अपने ग्यारह साथियों की चर्चा की है। इन लोगों का साथ उन्हें इस मायने में बहुत दिलचस्प लगता था कि वे केवल राजनीतिक माहौल के ही नहीं, भारतीय विद्वत्ता के, प्राचीन और नवीन भारत के तथा तत्कालीन भारतीय जीवन के सभी पक्षों के प्रतिनिधि थे। इनका संबंध भारत की लगभग सभी जीवित और प्राचीन भाषाओं से था और उनकी विद्वत्ता का स्तर बहुत ऊँचा था। प्राचीन भाषाओं में संस्कृत और पाली के साथ अरबी और फ़ारसी, और आधुनिक भाषाओं में हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, तेलुगु, सिन्धी और उड़िया शामिल थीं।

नेहरू ने लिखा है : "मेरे सामने ग्रहण करने के लिए यह तमाम दौलत थी और एकमात्र बाधा उससे लाभान्वित होने की मेरी सीमित क्षमता थी"। अपने साथियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए नेहरू ने मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के प्रभावी व्यक्तित्व और गोविन्दवल्लभ पंत, नरेन्द्र देव और आसफ़ अली का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षों के बारे में इन बन्दी साथियों से जो अनगिनत बहसें और बातचीत हुई उससे नेहरू को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने में मदद मिली। इस ऋण को भी उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है।

मूल रचना के बारे में यह ख़ुलासा इसलिए ज़रूरी था ताकि रचनाकार के केन्द्रीय सरोकार और दृष्टिकोण के साथ सम्पादन-नीति को समझने में आसानी हो। इस रचना में भारत के इतिहास को घटना-क्रम में नहीं, सांस्कृतिक यात्रा के रूप में देखने-समझने का प्रयास है। अतीत का यह 'भार' रचनाकार की विरासत है। व्यक्ति की नहीं पूरी मानव जाति की, जिसे उसने हज़ारों हज़ार वर्षों की काल-यात्रा में जिया, झेला और धारण किया है। इस कहानी का स्रोत नेहरू के मन की वह भीतरी चित्र-गैलरी है जिसका निर्माण अनगिनत वैयक्तिक सम्पर्कों से हुआ है। इसीलिए वैयक्तिक तत्व और प्रसंग इसमें अनुपस्थित तो नहीं हो सके, पर वे रचनाकार के मूल मन्तवय का अनिवार्य हिस्सा भी नहीं है।

मूल का सम्पादन करने की प्रक्रिया में हमारा केन्द्रीय सरोकार यही रहा है कि रचना का यह अनिवार्य कथ्य सुरक्षित रहे। चयन करते हुए दो तरह के प्रसंगों का समावेश नहीं किया गया : (1) नितान्त पारिवारिक घटनाएँ (2) दीर्घ ऐतिहासिक ब्यौरे।

पहले वर्ग के अन्तर्गत मुख्य रूप से दूसरे अध्याय की सामग्री है-कमला के विवाह से उनकी मृत्यु तक की घटनाएँ। प्रसंग मार्मिक होते हुए भी रचना के मूल सरोकार के लिए ज़रूरी प्रतीत नहीं हुआ। दूसरे वर्ग में पाँचवें अध्याय से दसवें अध्याय के बीच आने वाले अनेक प्रसंग गैर ज़रूरी समझकर छोड़े गए हैं। उदाहरण के लिए पाँचवें अध्याय में 'भारत और ईरान' तथा 'भारत और यूनान' शीर्षक के अन्तर्गत लिखित अंश।

सम्पादन करते हुए सर्वोपरि महत्त्व 'भारत की खोज' के इस संक्षिप्त अनुदित संस्करण के सम्भावित पाठक वर्ग के स्तर और अपेक्षा को दिया गया है।

यह अनुवाद पठनीय, बोधगम्य और ज्ञानवर्धक हो, पढ़ने के क्रम में सम्पादन के बावजूद निरन्तरता और प्रवाह बना रहे, इसके सुधी पाठक इसकी मूल संवेदना को अखण्ड रूप में ग्रहण कर सकें, यही हमारा प्रयास रहा है। आशा है पाठक इसे ऐसा ही पाएँगे।

निर्मला जैन

आभार

इस शृंखला के अंतर्गत प्रकाशित की जा रही पुस्तकों में कृपापूर्ण योगदान के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् निम्नलिखित विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है :

प्रो. नामवर सिंह, प्रो. निर्मला जैन, स्व. प्रो. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, प्रो. मुजीब रिज़वी, प्रो. परमानंद श्रीवास्तव, प्रो. नित्यानंद तिवारी, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. गुणाकार मुले, डॉ. के. डी. शर्मा, डॉ. निरंजन कुमार सिंह, डॉ. मानसिंह वर्मा, डॉ. जयपाल सिंह 'तरंग', डॉ. एस. पी. मित्तल और श्री र. शौरिराजन।

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

विषय-सूची

	प्राक्कथन	v
	संपादन और अनुवाद	vii
	आभार	ix
1.	अहमदनगर का किला	1
2.	तलाश	5
3.	सिंधु घाटी सभ्यता	22
4.	युगों का दौर	65
5.	नयी समस्याएँ	108
6.	अंतिम दौर (1)	139
7.	अंतिम दौर (2)	162
8.	तनाव	175
9.	दो पृष्ठभूमियाँ : भारतीय और अंग्रेज़ी	177
	उपसंहार	

अध्याय 1

अहमदनगर का किला

बीस महीने

अहमदनगर का किला, 13 अप्रैल 1944

हमें यहाँ आए हुए बीस महीने से अधिक समय बीत गया—मेरी नौंवी जेलयात्रा का बीस महीने से भी अधिक समय। अंधियारे आकाश में झिलमिलातें दूज के चाँद ने यहाँ पहुँचने पर हमारा स्वागत किया। बढ़ते चाँद का उजला शुक्ल-पक्ष शुरू हो चुका था। तब से हर बार जब नया चाँद उगता है तो जैसे मुझे याद दिला जाता है कि मेरे कारावास का एक महीना और बीत गया। ऐसा ही मेरे पिछले कारावास की अवधि में हुआ था जो आलोक-पर्व दीपावली के तत्काल बाद नए चाँद के साथ शुरू हुई थी। चाँद, मेरे बंदी जीवन का स्थायी सहचर रहा है। पहचान गहराने से मित्रता और बढ़ गई है। वही मुझे दुनिया के सौंदर्य की, जीवन के ज्वार-भाटे की याद दिलाता है। साथ ही इस बात की भी कि अंधेरे के बाद उजाला होता है और मृत्यु और पुनर्जीवन एक दूसरे के पीछे अनंत क्रम में घूमते रहते हैं। निरंतर बदलते रहने के बावजूद हमेशा वैसा ही होता है ये चाँद। मैंने उसे उसकी विभिन्न कलाओं, में, और तरह-तरह के मनोभावों में देखा है। शाम को लंबी होती परछाइयों में, रात के मौन प्रहरों में, और तब जब भोर के झोंके और मरमराहट, आने वाले दिन की आस बँधाते हैं।

अतीत का भार

दूसरे जेलों की तरह, यहाँ अहमदनगर के किले में भी मैंने बागबानी करना शुरू कर दिया। मैं रोज़ कई घंटे, तपती धूप में भी फूलों के लिए क्यारियाँ खोदकर तैयार करने में बिताने लगा। मिट्टी बहुत खराब थी—पथरीली और पहले बनाए गए मकानों के मलबे और अवशेषों से भरी हुई। उसमें प्राचीन स्मारकों के खण्डहर भी मौजूद थे इसलिए चूँकि यह इतिहास-स्थल है। अतीत में इसने कई युद्ध और राजमहलों की दुरभिसंधियाँ देखी हैं। भारत के पूरे इतिहास की दृष्टि से यहाँ का इतिहास बहुत पुराना नहीं है, घटनाओं के बृहत्तर संदर्भ में इसकी कोई विशेष अहमियत भी नहीं है। पर इनमें एक घटना औरों से विशिष्ट है, और आज भी याद की जाती है। यह है चाँद बीबी नामक एक सुन्दर महिला के साहस की कहानी, जिसने इस किले की रक्षा के लिए, तलवार हाथ में उठाकर, अकबर की शाही सेना के विरुद्ध अपनी सेना का नेतृत्व किया। उसकी हत्या उसके अपने ही एक आदमी के हाथों हुई।

इस अभागी धरती की खुदाई के दौरान हमें ज़मीन की सतह के बहुत नीचे दबे हुए प्राचीन दीवारों के हिस्से और गुंबदों और इमारतों के ऊपरी हिस्से मिले। हम बहुत दूर नहीं जा सके, क्योंकि अधिकारियों ने गहरी खुदाई करने और पुरातात्विक खोजबीन करने की अनुमति नहीं दी थी और न ही हमारे पास इस काम को जारी रखने के साधन थे। एक बार हमें एक तरफ दीवार पर पत्थर पर खुदे हुए सुंदर सफ़ेद कमल की आकृति मिली। शायद यह पत्थर दरवाज़े के ऊपर रहा होगा।

अब मैंने अपनी कुदाल छोड़कर उसके बदले कलम उठा ली है। मैं वर्तमान के बारे में तब तक नहीं लिख सकता जब तक उसे कर्म के माध्यम से अनुभव करने के लिए मैं आज़ाद नहीं हो जाता ना ही मैं पैग़ंबर की भूमिका अपनाकर भविष्य के बारे में लिख सकता हूँ।

बच रहता है अतीत, पर मैं बीती हुई घटनाओं के बारे में किसी इतिहासकार या विद्वान की विद्वत्तापूर्ण शैली में भी नहीं लिख सकता। मैं उसके बारे में उसी ढंग से लिख सकता हूँ जिस तरह मैं पहले भी लिख चुका हूँ—अपने आज के विचारों और क्रियाकलापों के साथ उसका कोई संबंध स्थापित करके। गेटे ने एक बार कहा था कि इस प्रकार का इतिहास-लेखन अतीत के भारी बोझ से एक सीमा तक राहत दिलाता है।

अतीत का दबाव

भला-बुरा, दोनों तरह का दबाव, अभिभूत करता है। कभी-कभी यह दबाव दम-घोटू होता है—खास तौर पर उन लोगों के लिए जिनकी जड़ें बहुत पुरानी सभ्यताओं में होती हैं—मसलन भारत और चीन की सभ्यताएँ। नीत्शे ने कहा था—"बीती हुई सदियों का विवेक ही नहीं उनकी दीवानगी भी हमारे भीतर से फूट पड़ती है। उनका वारिस होना आवश्यक है।"

आखिर मेरी विरासत क्या है? मैं किन बातों का उत्तराधिकारी हूँ? क्या उस सबका जिसे मानवता ने दसियों हज़ारों साल के दौरान हासिल किया, उस सबका जिसके बारे में उसने विचार किया, महसूस किया, भोगा और जिन बातों से उसने खुशियाँ हासिल कीं, उसकी विजयों के उल्लास का, उसकी पराजयों की दुखद यंत्रणा का, मानव के उन हैरतंगेज़ मिरानों (साहसिक कार्यों) का जिनकी शुरुआत युगों पहले हुई और जो अब भी जारी है और हमें आकर्षित करती है। मैं इस सबका वारिस हूँ और उस सबका भी जिसमें पूरी मानव जाति की साझेदारी है। पर हम भारतवासियों की विरासत में एक खास बात है, लेकिन यह कोई अनोखी बात नहीं है, क्योंकि कोई व्यक्ति औरों से एकदम अलग नहीं होता। मानव-जाति के लिए सभी बातें समान हैं। अलबत्ता एक बात हम लोगों पर विशेष रूप से

लागू होती है, जो हमारे रक्त, मांस और अस्थियों में समायी है। इसी विशेषता से हमारा वर्तमान रूप बना है, और हमारा भावी रूप बनेगा।

इसी विशिष्ट विरासत का विचार और वर्तमान पर इसे लागू करने की बात एक लंबे अरसे से मेरे मन में जगह बनाए है, और मैं इसी के बारे में लिखना चाहता हूँ। विषय की कठिनाई और जटिलता मुझे भयभीत करती है। मुझे लगता है कि मैं सतही तौर पर इसका स्पर्श ही कर सकता हूँ।

अध्याय 2

तलाश

भारत के अतीत की झाँकी

चिंतन और सक्रियता से भरे इन सालों में मेरे मन में भारत ही भारत रहा है। इस बीच मैं बराबर उसे समझने और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने का प्रयास करता रहा हूँ। मैं अपने बचपन की ओर लौटा और यह याद करने की कोशिश की कि मैं तब कैसा महसूस करता था। मेरे विकासशील मन में इस अवधारणा ने कैसा अस्पष्ट रूप ले लिया था, और मेरे ताज़ा अनुभव ने उसे कैसे सँवारा था।

अपने भौतिक और भौगोलिक पक्षों के अलावा आखिर यह भारत है क्या? अतीत में यह किस विशेषता का प्रतिनिधित्व करता था? उस समय उसे शक्ति देने वाला तत्त्व क्या था? उसने अपनी उस प्राचीन शक्ति को कैसे खो दिया? क्या उसने इस शक्ति को पूरी तरह खो दिया है? विशाल जनसंख्या का बसेरा होने के अलावा क्या आज उसके पास कुछ बचा है जिसे जानदार कहा जा सके? आधुनिक विश्व से उसका तालमेल किस रूप में बैठता है?

भारत मेरे खून में रचा-बसा था और उसमें बहुत कुछ ऐसा था जो मुझे सहज रोमांचित करता था। इसके बावजूद मैंने उसे एक बाहरी आलोचक की नज़र से देखना शुरू किया। ऐसा आलोचक जो वर्तमान के साथ-साथ अतीत के बहुत से अवशेषों को, जिन्हें उसने देखा था—नापसंद करता था। एक हद तक मैं

उस तक पश्चिम के रास्ते से होकर पहुँचा था। मैंने उसे उसी भाव से देखा जैसे संभवतः किसी पश्चिमी मित्र ने देखा होता। मैं उसके दृष्टिकोण और रूप रंग को बदलकर उसे आधुनिकता का जामा पहनाने के लिए उत्सुक भी था और चिंतित भी। किन्तु मेरे भीतर शंकाएँ सिर उठा रहीं थीं। क्या मैंने भारत को जान लिया था? मैं, जो उसके अतीत की विरासत के बड़े हिस्से को खारिज करने का साहस कर रहा था। उसमें बहुत कुछ ऐसा था जिसे खारिज किया जाना चाहिए था, बल्कि जिसे खारिज करना ज़रूरी था, लेकिन अगर भारत के पास वह कुछ नहीं होता जो बहुत जीवंत और टिकाऊ रहा है, वह बहुत कुछ जो सार्थक है, तो भारत का वह वजूद नहीं होता जो असंदिग्ध रूप से आज है, और वह हजारों वर्ष तक अपने सभ्य अस्तित्व की पहचान इस रूप में कदापि बनाए नहीं रख सकता था। वह 'विशेष' तत्त्व आखिर क्या था?

मैं भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित सिंध घाटी में मोहनजोदड़ों के एक टीले पर खड़ा था। मेरे चारों तरफ उस प्राचीन नगर के घर और गलियाँ बिखरी थीं जिसका समय पाँच हज़ार वर्ष पहले बताया जाता है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि वहाँ एक प्राचीन और पूर्णतः विकसित सभ्यता थी। प्रोफ़ेसर चाइल्ड ने लिखा है कि "सिंधु घाटी सभ्यता एक विशेष पर्यावरण के साथ मानव जीवन के बेहतरीन समायोजन का आदर्श नमूना है जिसे वर्षों के धीरतापूर्ण प्रयास से ही हासिल किया जा सका होगा। यह स्थायी रूप से टिका रहा, इसकी विशेषता है इसका ठेठ भारतीयपन और यही आधुनिक भारतीय सभ्यता का आधार है।" यह विचार आश्चर्यचकित कर देता है कि कोई संस्कृति या सभ्यता इस प्रकार पाँच-छः हजार वर्ष या उससे भी कुछ अधिक समय तक निरन्तर बनी रहे, और वह भी स्थिर अपरिवर्तनशील अर्थ में नहीं, क्योंकि भारत तो बराबर परिवर्तनशील और विकासमान रहा है। फारस, मिस्र, ग्रीस, चीन, अरब, मध्य-एशिया और भू-मध्य सागर के लोगों से उसका बराबर निकट संपर्क रहा। यद्यपि भारत ने उन्हें

प्रभावित किया, और स्वयं भी उनसे प्रभावित हुआ, फिर भी उसका सांस्कृतिक आधार इतना मज़बूत था कि वह हिला नहीं। इस मज़बूती का रहस्य क्या है? यह इसने आखिर कहाँ से पाई?

मैंने भारत का इतिहास और उसके विशाल प्राचीन साहित्य के कुछ अंशों को पढ़ा। मुझ पर विचारों की तेजस्विता, भाषा की स्पष्टता और उसके पीछे सक्रिय मस्तिष्क की समृद्धि ने गहरा प्रभाव डाला। मैंने उन पराक्रमी यात्रियों के साथ भारत की यात्रा की जो सुदूर अतीत में यहाँ चीन तथा पश्चिमी और मध्य-एशिया से आए थे और अपनी यात्राओं की दास्तान छोड़ गए थे। मैं पूर्वी एशिया, अंगकोर, बोरोबुदुर और बहुत-सी जगहों में भारत की उपलब्धियों के बारे में सोचने लगा। मैं उस हिमालय पर घूमता रहा जिसका पुराने मिथकों और दंतकथाओं के साथ निकट संबंध है, और जिसने हमारे विचारों और साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। पहाड़ों के प्रति मेरे प्रेम ने और कश्मीर के साथ मेरे खून के रिश्ते ने मुझे उनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। मैंने उनमें केवल वर्तमान की सजीवता, सौंदर्य और तेजस्विता को ही नहीं देखा बल्कि अतीत की स्मृति में बसे उनके मनमोहक रूप का साक्षात्कार भी किया। इस महान पर्वत से निकलकर भारत के मैदानों में बहने वाली भारत की विशाल नदियों ने मुझे आकर्षित किया और इतिहास के अनगिनत पहलुओं की याद ताज़ा की। इंडस या सिंधु, जिसके आधार पर हमारे इस देश का नाम पड़ा इंडिया और हिन्दुस्तान, और जिसे पार करके हज़ारों वर्षों से यहाँ जातियाँ और कबीले और काफ़िले और फ़ौजें आती रही हैं। ब्रह्मपुत्र.......इतिहास की मुख्य-धारा से लगभग कटी हुई, पर पुरानी कहानियों में आज भी जीवित, उत्तरपूर्वी पहाड़ियों के हृदय में पड़ी गहरी दरारों के बीच से बरबस मार्ग बनाती हुई भारत में प्रवेश करती है और फिर पहाड़ और जंगलों से भरे मैदान के बीच शांत रमणीय धारा के रूप में बहने लगती है। यमुना, जिसके चारों ओर नृत्य, उत्सव और नाटक से संबद्ध न जाने

कितनी पौराणिक कथाएँ एकत्र हैं। इन सबसे बढ़कर है, भारत की नदी गंगा, जिसने इतिहास के आरंभ से ही भारत के हृदय पर राज किया है और अनगिनत. ....लाखों की तादाद में लोगों को अपने तटों की ओर खींचा है। अपने उद्गम से सागर तक, प्राचीन काल से आधुनिक युग तक, गंगा की गाथा भारत की सभ्यता और संस्कृति की कहानी है। साम्राज्यों के उत्थान और पतन की कहानी है। महान वैभवशाली नगरों की कहानी है। मनुष्य के साहसपूर्ण अभियानों और उस मस्तिष्क, की खोज की कहानी है जिसने भारत के चिंतकों को व्यस्त रखा। जीवन के वैभव और पूर्णता के साथ ही उसके निषेध और त्याग की कहानी है। उतार और चढ़ाव की कहानी है। विकास और नाश की कहानी है। जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने पुराने स्मारकों और भग्नावशेषों को और पुरानी मूर्तियों और भित्ति चित्रों को देखा—अजंता, एलोरा, एलिफ़ेंटा की गुफाएँ और अन्य स्थानों को देखा। मैंने आगरा और दिल्ली में कुछ समय बाद बनी खूबसूरत इमारतों को भी देखा, जहाँ का प्रत्येक पत्थर भारत के अतीत की कहानी कह रहा था।

मैं अपने शहर इलाहाबाद में या फिर हरिद्वार में महान स्नान-पर्व कुंभ के मेले में जाता हूँ और देखता हूँ कि वहाँ अब भी सैकड़ों और हज़ारों की तादाद में लोग आते हैं—वैसे ही जैसे हज़ारों वर्ष से उनके पुरखे गंगा-स्नान करने के लिए भारत के सभी कोनों से आते रहे हैं। मुझे तेरह सौ साल पहले चीनी यात्रियों और कुछ दूसरे लोगों द्वारा लिखे इन पर्वों के वर्णनों की याद आ जाती है, गोकि उस समय भी ये मेले पुराने पड़ चुके थे और अनजाने प्राचीन काल में गुम हो गए थे। मुझे हैरत होती थी, कि वह कौन सी प्रबल आस्था थी जो हमारे लोगों को अनगिनत पीढ़ियों से भारत की इस प्रसिद्ध नदी की ओर खींचती रही है।

मेरे अध्ययन की पृष्ठभूमि के साथ इन यात्राओं और दौरों ने मिलकर मुझे

अतीत में देखने की एक अंतर्दृष्टि दी। एक निपट बौद्धिक समझ के साथ भावात्मक संवेदन का संयोग हुआ और मेरे मन में भारत की जो तस्वीर थी उसमें धीरे-धीरे सचाई का बोध घर करने लगा। मेरे पूर्वजों की भूमि में ऐसे जीते जागते लोग आबाद हो गए जो हँसते-रोते थे, प्यार करते थे और पीड़ा भोगते थे। इन्हीं में ऐसे लोग भी थे जिन्हें ज़िंदगी की जानकारी और समझ थी। इन्हीं लोगों ने अपने विवेक के सहारे ऐसा ढाँचा तैयार किया जिसने भारत को सांस्कृतिक स्थिरता दी--ऐसी स्थिरता जो हजारों वर्ष बनी रही। इस अतीत के सैकड़ों सजीव चित्र मेरे मन में भरे थे। जब भी किसी जगह जाता था, उस विशेष स्थान से संबद्ध चित्र तत्काल मेरे सामने आ खड़ा होता था। बनारस के पास सारनाथ में मैंने बुद्ध को उनका पहला उपदेश देते हुए लगभग साफ़ देखा। ढाई हज़ार वर्ष का फ़ासला तय करके उनके कुछ अभिलिखित शब्द जैसे दूर से आती प्रतिध्वनि की तरह मुझे सुनाई पड़े। अशोक के पाषाण स्तंभ जैसे अपने शिलालेखों के माध्यम से मुझसे शानदार भाषा में बात करते थे और मुझे एक ऐसे आदमी के बारे में बताते थे, जो खुद एक सम्राट होकर भी किसी अन्य राजा और सम्राट से महान था। फ़तहपुर-सीकरी में, अपने साम्राज्य को भुलाकर बैठा अकबर विभिन्न मतों के विद्वानों से संवाद और वाद-विवाद कर रहा था। वह नई जानकारियों के लिए जिज्ञासु भाव से मनुष्य की शाश्वत समस्याओं का हल तलाश कर रहा था।

इस तरह भारत के इतिहास की लंबी झाँकी जैसे धीरे-धीरे मेरे सामने खुलती जा रही थी--अपने उतार-चढ़ावों के और विजय-पराजयों के साथ। मुझे बाहरी आक्रमणों और उथल-पुथल से भरी इतिहास के पाँच हजार वर्षों से चली आ रही इस सांस्कृतिक परंपरा की निरंतरता में कुछ विलक्षणता प्रतीत होती है। यह परंपरा जो दूर-दूर तक जनता में फैली थी और जिसने उस पर गहरा प्रभाव डाला था।

भारत की शक्ति और सीमा

भारत की शक्ति के स्रोतों और उसके पतन और नाश के कारणों की खोज लंबी और उलझी हुई है। पर उसके पतन के हाल के कारण पर्याप्त स्पष्ट हैं। भारत तकनीक की दौड़ में पिछड़ गया, और यूरोप जो तमाम बातों में एक ज़माने से पिछड़ा हुआ था, तकनीकी प्रगति के मामले में आगे निकल गया। इस तकनीकी विकास के पीछे विज्ञान की चेतना थी और ऐसी हौसलामंद जीवनी शक्ति और मानसिकता थी जिसकी अभिव्यक्ति बहुत से कार्यकलापों और आविष्कारों की रोमांचक यात्राओं के माध्यम से हुई थी। नई तकनीकों ने पश्चिमी यूरोप के देशों को सैनिक बल दिया, और उनके लिए अपना विस्तार करके पूरब पर अधिकार करना आसान हो गया। यह केवल भारत की ही नहीं, लगभग सारे एशिया की कहानी है।

ऐसा क्यों हुआ, इस गुत्थी को सुलझाना ज्यादा मुश्किल है क्योंकि पुराने समय में तो भारत में मानसिक सजगता और तकनीकी कौशल की कमी थी नहीं किन्तु बाद की सदियों में उत्तरोत्तर गिरावट का आभास होने लगता है। जीवन की लालसा और उद्यम में कमी आ जाती है। क्षीण होती रचनात्मक प्रवृत्ति की जगह अनुकरण की प्रवृत्ति ले लेती है। जहाँ कामयाबी के साथ विद्रोही विचार-पद्धति ने प्रकृति और ब्रह्मांड के रहस्यों को भेदने का प्रयास किया था, वहाँ अपनी चमचमाती लंबी व्याख्याओं के साथ शब्दाडंबर से लैस भाष्यकार उसकी जगह लेता दिखाई देने लगता है। भव्य कला और मूर्ति-निर्माण का स्थान उदात्त अवधारणा और परिकल्पना से विहीन जटिल पच्चीकारी वाली सावधानी से की गई नक्काशी लेने लगी। प्रभावी किंतु सरल, सजीव और समृद्ध भाषा की जगह, अत्यंत अलंकृत और जटिल साहित्य शैली ने ले ली। साहसिक कार्यों की लालसा और छलकती हुई ज़िंदगी जिसके कारण दूर-दूर तक उपनिवेशीकरण की योजनाएँ और सुदूर देशों में भारतीय संस्कृति का प्रतिरोपण संभव हो सका था, क्षीण हो

चली और उसके स्थान पर महासागरों को पार करने पर रोक लगाने वाली संकीर्ण रूढ़िवादिता ने जन्म ले लिया। जाँच-पड़ताल की वह विवेकपूर्ण चेतना जो प्राचीन समय में अत्यंत स्पष्ट थी, जिसके द्वारा विज्ञान का और अधिक विकास संभव होता, लुप्त होती गई और विवेकहीनता और अतीत की अंधी मूर्तिपूजा ने उसकी जगह ले ली। भारतीय जीवन की निस्तेज धारा अतीत जीवी हो गई और निर्जीव शताब्दियों के पुंज से होकर धीमी गति से बहती रही। अतीत के विकट भार ने उसे कुचल कर रख दिया और वह एक तरह की मूर्च्छा से ग्रस्त हो गई। आश्चर्य नहीं कि मानसिक जड़िमा और शारीरिक थकावट की इस हालत में भारत का अपकर्षण होने लगा। वह गतिहीन और जड़ हो गया जबकि विश्व के दूसरे हिस्से प्रगति के पथ पर बढ़ते गए।

किंतु यह स्थिति का पूरा और पूर्णतः सही सर्वेक्षण नहीं है। यदि केवल जड़ता और गतिहीनता का एकरस और लंबा दौर रहा होता, तो इसके परिणामस्वरूप अतीत से पूरी तरह नाता टूट जाता। एक युग का अंत और उसके ध्वंसावशेषों पर किसी नई चीज का निर्माण होता। इस तरह का क्रमभंग हुआ नहीं और एक निश्चित सातत्य बना रहा। इसके अलावा, समय-समय पर पुनर्जागरण के स्पष्ट दौर आते रहे। इनमें से कुछ लंबे और वैभवशाली थे। नए को समझने और उसे अनुकूल बनाकर कम से कम पुराने के उस अंश के साथ जिसको रक्षा करने लायक समझा गया, उसका सामंजस्य करने के प्रयास साफ दिखाई पड़ते हैं। अक्सर पुराने का केवल बाहरी ढाँचा प्रतीक के रूप में बचा रहा और उसकी अंतर्वस्तु बदल गई। कुछ ऐसा जो अनिवार्य और जीवंत है, निरंतर बना रहता है। ऐसी लालसा, जो लोगों को उस लक्ष्य की ओर खींचती है जो पूरी तरह सिद्ध नहीं किया जा सका हो और साथ ही प्राचीन और नवीन के बीच सामंजस्य स्थापित करने की इच्छा बराबर बनी रहती है। इसी लालसा ने उन्हें गति दी और उन्हें पुराने को बनाए रखने के साथ-साथ नए विचारों को आत्मसात करने की

सामर्थ्य दी। मैं नहीं जानता कि इन युगों के दौरान किसी ऐसे भारतीय स्वप्न का अस्तित्व था जो सुस्पष्ट और सजीव हो या कभी-कभी उचाट नींद की मरमराहट में परिवर्तित हो जाता हो।

भारत की तलाश

पुस्तकों, प्राचीन स्मारकों और विगत सांस्कृतिक उपलब्धियों ने यद्यपि मुझमें एक हद तक भारत की समझ पैदा की लेकिन मुझे उनसे संतोष नहीं हुआ न ही वे मुझे वह उत्तर दे सकी जिसकी मैं तलाश कर रहा था। वर्तमान मेरे लिए, और मुझ जैसे बहुत से और लोगों के लिए मध्ययुगीनता, भयंकर गरीबी और दुर्गति और मध्य वर्ग की कुछ-कुछ सतही आधुनिकता का विचित्र मिश्रण है। मैं अपने वर्ग और अपनी किस्म के लोगों का प्रशंसक नहीं था, फिर भी भारतीय संघर्ष में नेतृत्व के लिए मैं निश्चित रूप से इसी वर्ग की ओर देखता था। यह मध्य वर्ग बंदी और सीमाओं में जकड़ा हुआ महसूस करता था और खुद तरक्की और विकास करना चाहता था। अंग्रेजी शासन के ढाँचे के भीतर ऐसा न कर पाने के कारण उसके भीतर विद्रोह की चेतना पनपी। लेकिन यह चेतना उस ढाँचे के खिलाफ़ नहीं जाती थी जिसने हमें रौंद दिया था। ये उस ढाँचे को बनाए रखना चाहते थे और अंग्रेजों को हटाकर उसका संचालन करना चाहते थे। ये मध्य वर्ग के लोग इस हद तक इस ढाँचे की पैदाइश थे, कि उसे चुनौती देना या उसे उखाड़ फेंकने का प्रयास करना इनके बस की बात नहीं थी।

नई ताकतों ने सिर उठाया और वे हमें ग्रामीण जनता की ओर ले गईं। पहली बार एक नया और दूसरे ढंग का भारत उन युवा बुद्धिजीवियों के सामने आया जो इसके अस्तित्व को लगभग भूल ही गए थे या उसे बहुत कम अहमियत देते थे। यह दृश्य बेचैन कर देना वाला था—अपनी भयंकर दुर्दशा और समस्याओं के विस्तार के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि उसने हमारे कुछ मूल्यों

और निष्कर्षों में संदेह उत्पन्न कर दिया था। तब हमने भारत के वास्तविक रूप की तलाश शुरू की और इससे हमारे भीतर इसकी समझ और द्वंद्व दोनों ही पैदा हुए। हमारे भीतर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ हुईं जो हमारे पिछले माहौल और अनुभव पर निर्भर थीं। कुछ लोग इस ग्रामीण समुदाय से पहले से परिचित थे, इसलिए उन्हें कोई नया उत्तेजक अनुभव नहीं हुआ। उन्होंने इन लोगों को सहज रूप में स्वीकार कर लिया। पर मेरे लिए यह सही अर्थों में नई तलाश के लिए यात्रा थी। गोया कि मुझे बराबर अपने लोगों की असफलताओं और कमज़ोरियों का दर्द भरा अहसास रहता था, पर भारत की ग्रामीण जनता में कुछ ऐसा था जिसे पारिभाषित करना कठिन है पर उसने मुझे बराबर आकर्षित किया। उनमें कुछ ऐसी बात थी जो मध्य वर्ग में अनुपस्थित थी।

मैं आम जनता की अवधारणा को काल्पनिक नहीं बनाना चाहता। जहाँ तक संभव हो मैं उनके बारे में मात्र सैद्धांतिक अमूर्त सत्ता के रूप में सोचने से बचने की कोशिश करता हूँ। मेरे लिए भारत के लोगों का अपनी सारी विविधता के साथ वास्तविक अस्तित्व है। उनकी विशाल संख्या के बावजूद मैं उनके बारे में अनिश्चित समुदायों के नहीं, व्यक्तियों के रूप में सोचने की कोशिश करता हूँ। चूँकि मैंने उनसे बहुत अपेक्षाएँ नहीं रखी, शायद इसीलिए मुझे निराशा भी नहीं हुई। मैंने जितनी उम्मीद की थी उससे कहीं अधिक पाया। मुझे सूझा कि इसका कारण और इसके साथ ही उनमें जो एक प्रकार की दृढ़ता और अन्तःशक्ति है उसका कारण भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा है जिसे उन्होंने कुछ अंशों में अब भी बचाए रखा है। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो अत्याचार झेला है बहुत कुछ तो उसी के कारण समाप्त हो गया। फिर भी कुछ तो ऐसा बच रहा है जो सार्थक है और उसके साथ बहुत कुछ ऐसा है जो निरर्थक और अनिष्टकर है।

भारतमाता

अक्सर जब मैं एक के बाद एक सभा में जाता तो श्रोताओं से मैं अपने

इस देश की चर्चा करता—हिंदुस्तान की और साथ ही भारत की—जो जाति के संस्थापक के नाम से व्युत्पन्न इसका प्राचीन संस्कृत नाम है। मैंने शहरों में ऐसा कम किया क्योंकि वहाँ के श्रोता अपेक्षाकृत आधुनिक थे और वे अधिक दमदार भाषण की अपेक्षा करते थे। पर सीमित नज़रियों वाले किसानों को मैंने इस महान देश की बाबत बताया जिसकी मुक्ति के लिए हम संघर्ष कर रहे हैं, कि कैसे इसका हर हिस्सा दूसरे से भिन्न होते हुए भी भारत है। मैंने उन्हें उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक किसानों की सामान्य समस्याओं की जानकारी दी, और उस स्वराज की भी जो सब के लिए और भारत के हर हिस्से के लिए एक-सा होगा, कुछ विशेष लोगों के लिए नहीं। मैंने उन्हें सुदूर उत्तर-पश्चिम में खैबर पास से कन्याकुमारी या केप कोमरिन तक अपनी यात्रा के बारे में बताया। मैंने बताया कि कैसे हर जगह मुझसे किसानों ने एक जैसे सवाल पूछे, क्योंकि उनकी समस्याएँ समान थीं—गरीबी, कर्ज़, निहित स्वार्थ, ज़मींदार, महाजन, भारी लगान और कर, पुलिस के अत्याचार, और ये सब उस ढाँचे में लिपटे हुए थे जिसे हमारे ऊपर विदेशी हुकूमत ने आरोपित किया था। साथ ही यह भी कि राहत भी सबके लिए आनी चाहिए। मैंने इस बात की कोशिश की कि वे भारत को अखंड मानकर उसके बारे में सोचें। साथ ही थोड़ा-बहुत उस विराट विश्व के बारे में भी सोचें, जिसके कि हम एक हिस्से हैं।

यह काम बहुत आसान नहीं था किन्तु उतना मुश्किल भी नहीं था जैसा मैंने सोचा' था। हमारे प्राचीन महाकाव्यों, पुरागाथाओं और दंत-कथाओं की उन्हें पूरी जानकारी थी। इस साहित्य ने अपने देश की अवधारणा से उन्हें परिचित करा दिया था। इन लोगों में से हमेशा कुछ ऐसे भी होते ही थे जिन्होंने भारत के चारों कोनों में स्थित धार्मिक स्थलों की यात्रा की थी।

कभी-कभी जैसे ही मैं किसी सभा में पहुँचता था, मेरे स्वागत में अनेक कंठों का स्वर गूँज उठता था—"भारत माता की जय"। मैं उनसे अचानक प्रश्न कर देता

कि इस पुकार से उनका क्या आशय है? यह भारत माता कौन है, जिसकी वे जय चाहते हैं, मेरा प्रश्न उन्हें मनोरंजक लगता और चकित करता। उनकी ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि वे मुझे क्या जवाब दें और तब वे एक दूसरे की ओर, और फिर मेरी ओर ताकने लगते। मैं बार-बार सवाल करता जाता। आखिर एक हट्टा-कट्टा जाट, जिसका न जाने कितनी पीढ़ियों से मिट्टी से अटूट नाता है, जवाब में कहता कि यह भारत माता हमारी धरती है, भारत की प्यारी मिट्टी। मैं फिर सवाल करता : "कौन-सी मिट्टी?—उनके अपने गाँव के टुकड़े की, या ज़िले और राज्य के तमाम टुकड़ों की, या फिर पूरे भारत की मिट्टी?" प्रश्नोत्तर का यह सिलसिला तब तक चलता रहता जब तक वे प्रयत्न करते रहते और आखिर कहते कि भारत वह सब कुछ तो है ही जो उन्होंने सोच रखा है, उसके अलावा भी बहुत कुछ है। भारत के पहाड़ और नदियाँ, जंगल और फैले हुए खेत जो हमारे लिए खाना मुहैय्या करते हैं सब हमें प्रिय हैं। लेकिन जिस चीज़ का सबसे अधिक महत्त्व है वह है भारत की जनता, उनके और मेरे जैसे तमाम लोग, वे सब लोग जो इस विशाल धरती पर चारों ओर फैले हैं। भारत माता मूल रूप से यही लाखों लोग हैं और उसकी जय का अर्थ है इसी जनता जनार्दन की जय। मैंने उनसे कहा कि तुम भारत माता के हिस्से हो, एक तरह से तुम खुद ही भारत माता हो। जैसे-जैसे यह विचार धीरे-धीरे उनके दिमाग में बैठता जाता, उनकी आँखें चमकने लगतीं मानों उन्होंने कोई महान खोज कर ली हो।

भारत की विविधता और एकता

भारत की विविधता अद्भुत है, प्रकट है, वह सतह पर दिखाई पड़ती है और कोई भी उसे देख सकता है। इसका ताल्लुक शारीरिक रूप से भी है और मानसिक आदतों और विशेषताओं से भी। बाहर से देखने पर उत्तर-पश्चिमी इलाके के पठान और सुदूर दक्षिण के वासी तमिल में बहुत कम समानता है।

उनकी नस्लें भिन्न हैं, हालाँकि उनके भीतर कुछ समान सूत्र हो सकते हैं। वे चेहरे और शरीर-गठन में, खाने और पहनावे में और जाहिर है भाषा में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में मध्य-एशिया की गमक तो है ही, वहाँ के बहुत से रीति-रिवाज़, जैसे कश्मीर के भी, हिमालय के उस पार के देशों की याद दिलाते हैं। पठानों के लोक प्रचलित नृत्य विलक्षण रूप से रूसी कोज़क नृत्यशैली से मिलते हैं। इन तमाम भिन्नताओं के बावजूद पठान पर भारत की छाप वैसी ही स्पष्ट है जैसी तमिल पर। इसमें कोई अचरज नहीं, क्योंकि सीमा के ये प्रदेश, और साथ ही अफ़गानिस्तान भी, भारत के साथ हज़ारों वर्ष से जुड़े रहे हैं। ये पुराने तुर्क और दूसरी जातियाँ जो अफगानिस्तान और मध्य एशिया में बसी थीं, इस्लाम के आने से पहले, बौद्ध थीं, और उससे भी पहले वैदिक काल में हिंदू थीं। सीमांत क्षेत्र प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रमुख केंद्रों में से था। अब भी स्मारकों और मठों के ढेरों ध्वस्त अवशेष उसमें बिखरे हैं–विशेष रूप से तक्षशिला के महान विश्वविद्यालय के, जो दो हज़ार वर्ष पहले अपनी प्रसिद्धि की चरम सीमा पर था। सारे भारत के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों से विद्यार्थी यहाँ खिंचे आते थे। धर्म-परिवर्तन से अंतर ज़रूर आया, पर उन क्षेत्रों के लोगों ने जो मानसिकता विकसित कर ली थी वह इन परिवर्तनों के बावजूद पूरी तरह नहीं बदल सकी।

पठान और तमिल दो चरम उदाहरण हैं, बाकी की स्थिति कहीं इन दोनों के बीच में है। सबकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं, पर सब पर इससे भी गहरी छाप भारतीयता की है। यह जानकारी बेहद हैरत में डालने वाली है कि बंगाली, मराठे, गुजराती, तमिल, आंध्र, उड़िया, असमी, कन्नड़, मलयाली, सिंधी, पंजाबी, पठान, कश्मीरी, राजपूत, और हिंदुस्तानी भाषा-भाषी जनता से बसा हुआ विशाल मध्य भाग, कैसे सैकड़ों वर्षों से अपनी अलग पहचान बनाए रहे। इसके बावजूद इन सबके गुण-दोष कमोबेश एक से हैं–इसकी जानकारी पुरानी परंपरा और

अभिलेखों से मिलती है। साथ ही इस पूरे दौरान वे स्पष्ट रूप से ऐसे भारतीय बने रहे जिनकी राष्ट्रीय विरासत एक ही थी और उनकी नैतिक और मानसिक विशेषताएँ भी समान थीं। इस विरासत में कुछ ऐसे जीवंत और गत्यात्मक तत्त्व थे जो जीवन शैली और जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति एक प्रकार के दार्शनिक रवैये में प्रकट होते थे। प्राचीन चीन की तरह प्राचीन भारत अपने आप में एक दुनिया थी, एक संस्कृति और सभ्यता थी जिसने तमाम चीज़ों को आकार दिया था। विदेशी प्रभाव आए और अक्सर उस संस्कृति को प्रभावित करके उसी में जज़्ब हो गए। जब भी विघटनकारी तत्त्व उभरे तत्काल उन्होंने सामंजस्य खोजने के प्रयास को बढ़ावा दिया। सभ्यता के आरंभ से ही भारतीय मानस में एकता के स्वप्न ने अपनी जगह बनाए रखी। इस एकता की कल्पना कभी किसी बाहर से आरोपित वस्तु या बाहरी तत्त्वों के या विश्वास के मानकीकरण के रूप में नहीं की गई। यह कल्पना कहीं अधिक गहन थी। इसके अंतर्गत विश्वासों और रीति-रिवाजों के प्रति अपार सहिष्णुता का पालन किया गया और साथ ही हर तरह की विविधता को मान्यता ही नहीं प्रोत्साहन भी दिया गया।

किसी एक देशीय समूह में भी, चाहे वह कितने घनिष्ठ रूप में एक दूसरे से जुड़े हों, छोटी-बड़ी भिन्नताएँ हमेशा देखी जा सकती हैं। उस समूह की मूल एकता तब प्रकट होती है जब उसकी तुलना किसी अन्य देशीय समूह से की जाती है। यह बात अलग है कि अक्सर दो निकटवर्ती समूहों की भिन्नता, सीमांत इलाकों में या तो धुँधली पड़ जाती हैं या आपस में घुलमिल जाती हैं। आधुनिक प्रगति हर जगह एक सीमा तक समानता उत्पन्न करने की दिशा में प्रयत्नशील है। प्राचीन और मध्य युग में, आधुनिक राष्ट्र के विचार ने जन्म नहीं लिया था और सामंती, धार्मिक या जातीय संबंधों का महत्त्व अधिक था। फिर भी, मेरा विचार है कि ज्ञात इतिहास में किसी भी समय एक भारतवासी, भारत के किसी भी हिस्से में अपने ही घर की-सी—अपनेपन की अनुभूति करता, जबकि किसी भी

दूसरे देश में पहुँचकर वह अजनबी और परदेशी महसूस करता। उन देशों में जाकर जिन्होंने कुछ दूर तक उसकी संस्कृति या धर्म को अपना लिया था, उसे अजनबीपन का बोध निश्चय ही कम होता। वे लोग जो किसी गैर-भारतीय धर्म को मानने वाले थे या भारत में आकर यहीं बस गए, कुछ ही पीढ़ियों से गुज़रने के दौरान स्पष्ट रूप से भारतीय हो गए जैसे यहूदी, पारसी और मुसलमान। जिन भारतीयों ने इन धर्मों को स्वीकार कर लिया वे भी धर्म-परिवर्तन के बावजूद भारतीय बने रहे। दूसरे देशों ने उन्हें भारतीय और विदेशी रूप में ही देखा भले ही उनके बीच धर्म-साम्य रहा हो।

आज, जब राष्ट्रीयतावाद की अवधारणा कहीं अधिक विकसित हो गई है, विदेशों में भारतीय अनिवार्य रूप से एक राष्ट्रीय समुदाय बनाकर विभिन्न कारणों से एकजुट होकर रहते हैं, भले ही उनमें भीतरी मतभेद हों। एक हिंदुस्तानी ईसाई, कहीं भी जाए, उसे हिंदुस्तानी ही माना जाता है। इस प्रकार किसी हिंदुस्तानी मुसलमान को तुर्की, अरब, ईरान या किसी भी अन्य देश में जहाँ इस्लाम धर्म का प्रभुत्व हो, हिंदुस्तानी ही समझा जाता है।

मेरे ख्याल से, हम सब के मन में अपनी मातृभूमि की अलग-अलग तस्वीरें हैं और कोई दो आदमी बिल्कुल एक जैसा नहीं सोच सकते। जब मैं भारत के बारे में सोचता हूँ, तो मेरे मन में बहुत-सी बातें आती हैं। मैं सोचता हूँ—दूर-दूर तक फैले मैदानों और उन पर बसे अनगिनत छोटे-छोटे गाँवों के बारे में; और उन कस्बों और शहरों के बारे में जिनकी मैंने यात्रा की, वर्षा ऋतु की उस जादुई बरसात के बारे में जो झुलसी हुई धरती में जीवन संचार करके उसे सहसा सौंदर्य और हरियाली के झिलमिलाते प्रसार में बदल देती है, विशाल नदियों और उनके बहते जल के बारे में, ठंड की चादर से लिपटे खैबर पास के बारे में, भारत के दक्षिणी सिरे के बारे में, लोगों के बारे में—व्यक्ति और समूह दोनों रूपों में, और सबसे ज़्यादा बर्फ़ की टोपी पहने हिमालय के या बसंत ऋतु में कश्मीर की किसी

पहाड़ी घाटी के बारे में जो नवजात फूलों से लदी होती है, और जिसके बीच से कलकल-खलखल करता झरना बहता है। हम अपनी पसंद की तस्वीर बनाते हैं और उसे सहेज कर रखते हैं। इसीलिए मैंने एक गरम, उपोष्ण देश की ज़्यादा स्वाभाविक तस्वीर की बजाय इस पृष्ठभूमि को चुना। दोनों ही तस्वीरें सही होंगी क्योंकि भारत का विस्तार तो उष्ण कटिबंधों से शीतोष्ण प्रदेशों तक और भूमध्य रेखा के निकट से एशिया के शीतल हृदय देश तक है।

जन संस्कृति

मैंने वर्तमान समय में भारतीय जनता के गतिमान जीवन-नाटक को देखा। ऐसे अवसर पर मैं अक्सर उन सूत्रों को खोज लेता था जिनसे उनका जीवन अतीत से बँधा है, जबकि उनकी आँखें भविष्य पर टिकी रहती थीं। हर जगह मुझे एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मिली जिसका जनता के जीवन पर बहुत गहरा असर था। इस पृष्ठभूमि में लोक प्रचलित दर्शन, परंपरा, इतिहास, मिथक और पुरा-कथाओं का मेल था, और इनमें से किसी को दूसरे से अलग करके देख पाना संभव नहीं था। पूरी तरह अशिक्षित और निरक्षर लोग भी इस पृष्ठभूमि में सहभागी थे। लोक-प्रचलित अनुवादों और टीकाओं के माध्यम से भारत के प्राचीन महाकाव्य—रामायण और महाभारत और अन्य ग्रंथ भी जनता के बीच दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। हर घटना, कथा और उनका नैतिक अर्थ लोकमानस पर अंकित था और उसने उन्हें समृद्ध और संतुष्ट बनाया था। अपढ़ ग्रामीणों को सैकड़ों पद कंठस्थ थे और अपनी बातचीत के दौरान वे बराबर या तो उन्हें उद्धृत करते थे या फिर किसी प्राचीन कालजयी रचना में सुरक्षित किसी ऐसी कहानी का उल्लेख करते थे जिससे कोई नैतिक उपदेश निकलता हो। रोज़मर्रा की ज़िंदगी के मसलों के बारे में सीधी-सादी बातचीत को ये देहाती लोग जब इस तरह का साहित्यिक मोड़ देते थे तो मुझे अक्सर बहुत आश्चर्य होता था। यदि मेरे मन में लिखित

इतिहास और लगभग सुनिश्चित तथ्यों से निर्मित तस्वीरों का भंडार था तो मैंने महसूस किया कि अपढ़ किसान के मन में भी उसका अपना तस्वीरों का भंडार है। यह बात अलग है कि उसका स्रोत पुरा-कथाएँ और परंपरा और महाकाव्य के नायक-नायिकाएँ ही अधिक थीं और इतिहास बहुत कम। तिस पर भी वह बहुत स्पष्ट होता था। मैं उनके चेहरे, उनके आकार और उनकी चाल-ढाल को ध्यान से देखता। उनके बीच बहुत से संवेदनशील चेहरे, बलिष्ठ देह और सीधे साफ़ अवयवों वाले पुरुष दिखाई देते। महिलाओं में लावण्य, नम्रता, गरिमा और संतुलन के साथ-साथ एक ऐसा चेहरा जो अवसाद से भरा होता था। अक्सर बेहतर रूपाकार वाले लोग ऊँची जातियों में दिखाई पड़ते थे। आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर होती थी। कभी-कभी किसी देहाती रास्ते या गाँव के बीच से गुज़रते हुए मेरी नज़र किसी मनोहर पुरुष या सुंदर स्त्री पर पड़ती थी तो मैं विस्मय-विमुग्ध हो जाता था। वे मुझे पुराने भित्ति चित्रों की याद दिला देते थे। मुझे इस बात से हैरत होती कि उन तमाम भयानक कष्टों के बावजूद जिनसे भारत युगों तक गुज़रता रहा, आखिर यह सौंदर्य कैसे निरंतर टिका और बना रहा। इन लोगों को साथ लेकर हम क्या नहीं कर सकते बशर्ते इनके हालात बेहतर हों और इनके पास कुछ करने के ज़्यादा अवसर हों।

चारों ओर गरीबी और उससे पैदा होने वाली अनगिनत विपत्तियाँ फैली थीं, और इस दरिंदे की छाप हर माथे पर थी। ज़िंदगी को कुचल कर विकृत और भयंकर रूप दे दिया गया था। इस विकृति से तरह-तरह के भ्रष्टाचार पैदा हुए और लगातार अभाव और असुरक्षा की स्थिति बनी रहने लगी। यह सब देखने में सुखद नहीं था, पर भारत की असलियत यही थी। स्थितियों को यथावत् रूप में समर्पित भाव से स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रबल थी। पर साथ ही एक प्रकार की नम्रता और भलमनसाहत थी जो हज़ारों वर्ष की सांस्कृतिक विरासत की देन थी, जिसे बड़े से बड़ा दुर्भाग्य भी नहीं मिटा पाया था।

दो जीवन

इस तरह और कुछ दूसरे तरीकों से भी मैंने अतीत और वर्तमान भारत को पहचानने की कोशिश की। जीवित और बहुत पहले मृत व्यक्तियों से मुझ तक जो प्रभाव तथा विचार और अनुभूति की तरंगें प्रवाहित होती थीं उनको ग्रहण करने के लिए मैंने अपने को मनसा तैयार किया। मैंने कुछ देर के लिए उस अनंत जुलूस के साथ तादात्म्य करने का प्रयास किया जिसके आखिरी सिरे पर खड़ा मैं खुद भी संघर्ष कर रहा था। और फिर मैंने अपने को अलग कर लिया, मानों मैं किसी पहाड़ की चोटी पर खड़ा नीचे घाटी को तटस्थ होकर देख रहा था। इस लंबी यात्रा का उद्देश्य क्या है? ये अंतहीन जुलूस आखिर हमें किस मंजिल की ओर ले जा रहा है। कभी-कभी थकान और मोहभंग का बोध मुझे आक्रांत करता और तब मैं अपने भीतर एक तरह की तटस्थता पैदा करके उस स्थिति से अलग होने की कोशिश करता। धीरे-धीरे मेरा मन इसके लिए तैयार हो जाता। मैंने अपने को और मुझ पर जो गुज़रती थी उसे महत्त्व देना बंद कर दिया था। कम-से-कम मैंने ऐसा करने की कोशिश की, और एक हद तक मैं ऐसा करने में सफल भी हुआ, लेकिन बहुत दूर तक नहीं, क्योंकि मेरे भीतर एक भयानक ज्वालामुखी है, जो मुझे तटस्थ नहीं रहने दे सकता। अचानक आत्मरक्षा के सारे उपाय बेकार हो जाते और मेरी उदासीनता ख़त्म हो जाती।

लेकिन इस दिशा में मुझे जो आंशिक सफलता मिली, वह मेरे लिए बहुत सहायक हुई। कामकाज के दौरान मैं अपने को उससे अलग कर लेता और उसको एक दूरी से देखता। अपनी तमाम व्यस्तताओं के बीच भी मैं कभी-कभी एक दो घंटे चुराकर अपने मन के उस एकांत कक्ष में खो जाता, और कुछ समय के लिए एक दूसरा जीवन जीने लगता। और इस प्रकार ये दोनों ज़िंदगियाँ साथ-साथ आगे बढ़ने लगीं, एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई और साथ ही अलग भी।

अध्याय 3

सिंध घाटी सभ्यता

भारत के अतीत की सबसे पहली तस्वीर उस सिंध घाटी सभ्यता में मिलती है, जिसके प्रभावशाली अवशेष सिंध में मोहनजोदड़ो और पश्चिमी पंजाब में हड़प्पा में मिले हैं। इन खुदाइयों ने प्राचीन इतिहास की अवधारणा में क्रांति ला दी है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा एक दूसरे से काफी दूरी पर हैं। दोनों स्थानों पर इन खंडहरों की खोज मात्र एक संयोग थी। इस बात में संदेह नहीं कि इन दोनों क्षेत्रों के बीच ऐसे ही बहुत से और नगर और अवशेष दबे पड़े होंगे जिनकी रचना प्राचीन मनुष्य ने की होगी। वस्तुतः यह सभ्यता विशेष रूप से उत्तर भारत के बहुत बड़े भाग में दूर-दूर तक फैली थी। संभव है कि भविष्य में भी इस सुदूर अतीत को उद्‌घाटित करने का काम हाथ में लिया जाए और महत्त्वपूर्ण नई खोजें की जाएँ। अब भी इस सभ्यता के अवशेष इतनी दूर-दूर जगहों पर मिले हैं - जैसे पश्चिम में काठियावाड़ में और पंजाब के अंबाला जिले में। यह भी विश्वास किया जाता है कि यह सभ्यता गंगा की घाटी तक फैली थी। इसलिए यह केवल सिंध घाटी सभ्यता भर नहीं उससे बहुत अधिक है। मोहनजोदड़ो में पाए गए शिलालेखों का अर्थ अब तक पूरी तरह समझा नहीं जा सका है।

लेकिन अब तक हम जो जान सके हैं, उसका भी बहुत अधिक महत्त्व है। सिंध घाटी सभ्यता, आज जिस रूप में मिलती है, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह अत्यंत विकसित सभ्यता थी और उस स्थिति तक पहुँचने में

उसे हजारों वर्ष लगे होंगे। आश्चर्य की बात है कि यह सभ्यता प्रधान रूप से धर्मनिरपेक्ष सभ्यता थी और धार्मिक तत्त्व मौजूद होने पर भी इस पर हावी नहीं थे। यह भी स्पष्ट है कि यह भारत में परवर्ती सांस्कृतिक युगों की अग्रदूत थी।

इस तरह हम देखते हैं कि सिंध घाटी सभ्यता ने फ़ारस, मेसोपोटामिया, और मिस्र की सभ्यताओं से संबंध स्थापित किया और व्यापार किया। कुछ दृष्टियों से यह सभ्यता उनकी तुलना में बेहतर थी। यह एक ऐसी नागर सभ्यता थी जिसमें व्यापारी वर्ग धनाढ्य था और उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। सड़कों पर दुकानों की कतारें थीं और जो सम्भवतः छोटी दुकानें थीं, वे आज के भारतीय बाज़ार जैसी जान पड़ती हैं।

सिंध-घाटी सभ्यता और वर्तमान भारत के बीच ऐसी अनेक कड़ियाँ लुप्त हैं और समय के ऐसे दौर गुज़रे हैं जिनके बारे में हम बहुत कम जानते हैं। एक युग को दूसरे युग से जोड़ने वाली कड़ियाँ हमेशा साफ़ ज़ाहिर नहीं होतीं। वैसे भी इस बीच बहुत कुछ घटित हुआ है और असंख्य परिवर्तन हुए हैं। लेकिन भीतर ही भीतर निरंतरता का ऐसा बोध, एक अखंड शृंखला चली आ रही है जो आधुनिक भारत को छः सात हज़ार पुराने उस बीते हुए युग से जोड़ती है जब संभवतः सिंध-घाटी सभ्यता की शुरुआत हुई थी। यह देखकर अचरज होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में कितना कुछ ऐसा है जो हमें चली आती परंपरा, और रहन-सहन की, लोक-प्रचलित रीति-रिवाजों की, दस्तकारी की, यहाँ तक कि पोशाकों के फैशन की याद दिलाता है।

यह बात दिलचस्प है कि भारत अपनी कहानी की इस भोर-बेला में ही हमें एक नन्हें बच्चे की तरह नहीं, बल्कि अनेक रूपों में विकसित सयाने रूप में दिखाई पड़ता है। वह जीवन के तौर-तरीकों से अपरिचित नहीं है। वह किसी अस्पष्ट और दुर्लभ अलौकिक दुनिया के सपनों में खोया हुआ नहीं है, बल्कि उसने कलाओं और जीवन की सुख-सुविधाओं में उल्लेखनीय तकनीकी प्रगति कर

ली है। उसने केवल सुंदर वस्तुओं का सृजन ही नहीं किया बल्कि आधुनिक सभ्यता के उपयोगी और ज़्यादा ठेठ चिन्हों–अच्छे हमामों और नालियों के तन्त्र का निर्माण भी किया है।

आर्यों का आना

सिंध घाटी सभ्यता के ये लोग कौन थे और कहाँ से आए थे इसका हमें अब भी पता नहीं हैं। यह हो सकता है, बल्कि इसकी संभावना भी है कि इनकी संस्कृति इसी देश की संस्कृति थी और उसकी जड़ें और शाखाएँ दक्षिण भारत में भी मिल सकती हैं। कुछ विद्वानों को इन लोगों की और दक्षिण भारत की द्रविड़ जातियों और संस्कृति के बीच अनिवार्य समानता दिखाई पड़ती है। यदि प्राचीन समय में कुछ लोग भारत में आए भी थे, तो यह घटना मोहनजोदड़ो का जो समय माना जाता है उससे कई हज़ार वर्ष पहले घटी होगी। व्यावहारिक दृष्टि से हम उन्हें भारत के ही निवासी मान सकते हैं।

सिंध घाटी की सभ्यता का क्या हुआ? उसका अंत कैसे हो गया? कुछ लोगों का कहना है (जिनमें गोल्डन चाइल्ड भी हैं) कि उसका अंत अकस्मात किसी ऐसी दुर्घटना से हो गया, जिसकी कोई व्याख्या नहीं मिलती। सिंध नदी अपनी भयंकर बाढ़ों के लिए प्रसिद्ध है जो नगरों और गाँवों को बहा ले जाती है। यह भी संभव है कि मौसम के परिवर्तन से धीरे-धीरे जमीन सूखती गई हो और खेतों पर रेगिस्तान छा गया हो। मोहनजोदड़ो के खंडहर अपने आप में इस बात का प्रमाण हैं कि बालू की तह पर तह जमती गयी, जिससे शहर की जमीन की सतह ऊँची उठती गई और नगरवासियों को मजबूर होकर पुरानी नींवों पर ऊँचाई पर मकान बनाने पड़े। खुदाई में निकले कुछ मकान दो या तीन मंजिले जान पड़ते हैं। वे इस बात का सबूत हैं कि सतह के ऊँचे उठने के कारण समय-समय पर उनकी दीवारें भी ऊँची उठाई गई हैं। हम जानते हैं कि सिंध का

सूबा पुराने समय में बहुत समृद्ध और उपजाऊ था, पर मध्ययुग के बाद वह ज़्यादातर रेगिस्तान रह गया।

इसलिए यह मुमकिन है कि मौसमी परिवर्तनों ने उन इलाकों के निवासियों और उनके रहन-सहन की पद्धति को प्रभावित किया हो। लेकिन मौसम के परिवर्तनों का प्रभाव दूर-दूर तक फैली इस नागर सभ्यता के अपेक्षाकृत छोटे से हिस्से पर पड़ा होगा। अब हमारे पास इस बात पर विश्वास करने के कारण हैं कि यह सभ्यता गंगा घाटी तक या संभवतः उससे भी दूर तक फैली थी पर इस बात का फैसला करने के लिए हमारे पास पर्याप्त आंकड़े नहीं हैं। वह बालू जिसने इनमें से कुछ प्राचीन शहरों पर छा कर उन्हें ढक लिया था, उसी ने उन्हें सुरक्षित भी रखा, जबकि दूसरे शहर और प्राचीन सभ्यता के प्रमाण धीरे-धीरे नष्ट होते रहे और समय के साथ खंड-खंड हो गए। शायद भविष्य में पुरातात्विक खोजें बाद के युगों के संबंधों की कुछ और कड़ियाँ उद्घाटित करें।

सिंध घाटी सभ्यता और बाद के काल-खंडों के बीच निरंतर संबंध का निश्चित सिलसिला दिखाई पड़ता है। लेकिन साथ ही इस सिलसिले के टूटने के, या इसमें अंतराल के प्रमाण भी मिलते हैं। यह टूटना केवल समय की दृष्टि से ही नहीं है बल्कि इस बात का भी सूचक है कि बाद में आने वाली सभ्यता भिन्न प्रकार की थी। बाद में आने वाली इस सभ्यता में शुरू-शुरू में संभवतः कृषि की बहुतायत थी गोकि नगर भी मौजूद थे और थोड़ा बहुत शहरी जीवन भी था। खेतिहर पक्ष पर ज़ोर शायद उन नवागंतुकों ने दिया होगा, जो आर्य थे और उत्तर-पश्चिमी दिशा से भारत में एक के बाद एक कई बार में आए।

ऐसा माना जाता है कि आर्यों का प्रवेश सिंध घाटी युग के लगभग एक हज़ार वर्ष पहले हुआ। यह भी संभव है कि इनमें इतना बड़ा समय का अंतर न रहा हो और पश्चिमोत्तर दिशा से भारत में ये कबीले और जातियाँ समय-समय पर आती रही हों, और भारत में जज़्ब होती रही हों—जैसे कि बाद में भी हुआ।

हम कह सकते हैं कि सबसे पहला बड़ा सांस्कृतिक समन्वय और मेल-जोल बाहर से आने वाले आर्यों और उन द्रविड़ जाति के लोगों के बीच हुआ जो संभवतः सिंध घाटी सभ्यता के प्रतिनिधि थे। इसी समन्वय और मेल-जोल से भारतीय जातियों और बुनियादी भारतीय संस्कृति का विकास हुआ जिनमें दोनों सभ्यताओं के तत्त्व साफ दिखाई पड़ते हैं। बाद के युगों में और बहुत-सी जातियाँ आईं—जैसे—ईरानी, यूनानी, पार्थियन, बैक्ट्रियन, सीथियन, हूण, तुर्क (इस्लाम से पहले) पुराने ईसाई, यहूदी, पारसी ये सब आए, अपना प्रभाव डाला और फिर यहीं घुल-मिल कर रह गए।

प्राचीनतम अभिलेख, धर्म ग्रंथ और पुराण

सिंध घाटी सभ्यता की खोज से पहले यह समझा जाता था कि हमारे पास भारतीय संस्कृति का सबसे पुराना इतिहास वेद हैं। वैदिक युग के काल निर्धारण के बारे में बहुत मतभेद रहा है। यूरोपीय विद्वान प्रायः इसका समय बहुत बाद में मानते हैं और भारतीय विद्वान पहले। यह विचित्र बात है कि अपनी प्राचीन संस्कृति का महत्त्व बढ़ाने के लिए भारतीय विद्वान उसके इतिहास को खींच कर ज़्यादा से ज़्यादा पीछे ले जाने का प्रयास करते हैं। प्रोफेसर विन्टरनित्स के अनुसार वैदिक साहित्य का समय ईसा पूर्व 2000 या 2500 भी हो सकता है। इस तरह हम मोहनजोदड़ो के समय के बहुत निकट पहुँच जाते हैं।

आजकल अधिकांश विद्वान ऋग्वेद की ऋचाओं का समय ईसा पूर्व 1500 मानते हैं। पर मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद से इन आरंभिक भारतीय धर्म ग्रंथों को और पुराना साबित करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इनका निश्चित समय कुछ भी रहा हो, संभावना यही है कि यह साहित्य यूनान और इसरायल दोनों के साहित्य से पहले का है। वस्तुतः यह हमारे पास मनुष्य के दिमाग की प्राचीनतम उपलब्ध रचना है। मैक्समूलर ने इसे : "आर्य-मानव के द्वारा कहा गया पहला शब्द" कहा है।

भारत की समृद्ध भूमि पर प्रवेश करने के बाद वेद आर्यों का पहला भावोद्‌गार है। वे अपने साथ उसी कुल के विचारों को लेकर आए थे जिससे ईरान में "अवेस्ता" की रचना हुई थी। भारत की धरती पर उन्होंने उन्हीं विचारों का पल्लवन किया। वेदों और अवेस्ता की भाषा में भी अद्‌भुत साम्य है। कहा गया है कि वेद भारत के अपने महाकाव्यों की संस्कृत की अपेक्षा अवेस्ता के अधिक निकट हैं।

वेद

बहुत से हिन्दू वेदों को प्रकाशित धर्म-ग्रंथ मानते हैं। यह बात मुझे विशेष दुर्भाग्यपूर्ण लगती है क्योंकि यह मान लेने पर उनका वास्तविक महत्त्व हमारी नजर से ओझल हो जाता है। उनका असली महत्त्व इस बात का उद्‌घाटन करने के कारण है कि विचारों की आरंभिक अवस्था में मानव-मस्तिष्क ने कैसे अपने को व्यक्त किया था। वह मस्तिष्क सचमुच कितना अद्‌भुत था। वेद की उत्पत्ति 'विद' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है जानना। अतः वेद का सीधा-सादा अर्थ है अपने समय के ज्ञान का संग्रह; उनमें बहुत कुछ इकट्ठा है : स्तोत्र, प्रार्थनाएँ, वैदिक कर्मकांड, जादू-टोना, और अद्‌भुत प्रकृति-काव्य। उनमें न मूर्ति-पूजा है न देव-मंदिर। वैदिक युग के आर्यों में जीवन के प्रति इतनी उमंग थी कि उन्होंने आत्मा पर बहुत कम ध्यान दिया। बहुत अस्पष्ट ढंग से वे मृत्यु के बाद किसी प्रकार के अस्तित्व में विश्वास करते थे।

पहला वेद यानी ऋग्वेद शायद मानव-जाति की पहली पुस्तक है। इसमें हमें मानव मन के सबसे आरंभिक उद्‌गार मिलते हैं, काव्य-प्रवाह मिलता है, और प्रकृति के सौंदर्य और रहस्य के प्रति हर्षोन्माद मिलता है। इसके अलावा जैसा डा. मैकनिकोल ने कहा है कि इन आरंभिक स्तोत्रों में हमें मनुष्य के उन साहसिक कारनामों का रिकार्ड मिलता है जो लंबे समय पहले किए गए। उन

लोगों के कारनामे जिन्होंने हमारे संसार के और उसमें बसे मानव-जीवन के महत्त्व की खोज करने का प्रयास किया। यहीं से भारत ने एक ऐसी तलाश आरंभ की जो उसके बाद कभी समाप्त नहीं हुई।

ऋग्वेद के पीछे सभ्य जीवन और विचार के कई युगों का इतिहास रहा है जिनके दौरान सिंध घाटी और मेसोपोटामिया और अन्य सभ्यताओं का विकास हुआ। इसलिए यह उचित ही है कि ऋग्वेद में "ऋषियों, अपने पूर्वजों और प्रथम मार्ग-दर्शकों" के नाम समर्पण किया गया है।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इन वैदिक ऋचाओं को "अस्तित्व के प्रति विस्मय और भय के भाव से भरे जन-समुदाय की सामूहिक प्रतिक्रिया का काव्यात्मक विधान" कहा है। सभ्यता के उषाकाल में ही प्रबल और सहज कल्पना से संपन्न लोग, जीवन में अंतर्निहित अनंत रहस्यों को जानने के लिए सजग हुए। उन्होंने अपनी सहज आस्था के कारण प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व और शक्ति में देवत्व का आरोप किया। पर इस सबमें साहस और आनंद का भाव था। इसीलिए रहस्य की भावना ने जीवन पर उसे चकराए बिना जादुई प्रभाव डाला। एक जाति का विश्वास था जो वस्तुरूप विश्व की द्वंद्वात्मक विविधता के बारे में वैचारिक चिंतन के बोझ से मुक्त था। यद्यपि जब-तब वह ऐसे सहज अनुभव से आलोकित हो उठता था कि "सत्य विप्र है : (यद्यपि) विप्र उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं"।

बहुत से पश्चिमी लेखकों ने इस ख्याल को बढ़ावा दिया है कि भारतीय लोग परलोक-परायण हैं। मैं समझता हूं कि हर देश के निर्धन और अभागे लोग एक हद तक परलोक में विश्वास करने लगते हैं· जब तक वे क्रांतिकारी नहीं हो जाते, क्योंकि जाहिर है कि यह दुनिया उनके लिए नहीं है। यही बात गुलाम देश के लोगों पर लागू होती है।

ऋग्वेद की ऋचाओं के समय से जीवन और विचार की इन दोनों धाराओं का विकास हमें बराबर दिखाई पड़ता है। आरंभिक ऋचाएं बाहरी दुनिया, प्रकृति

के सौंदर्य और रहस्य, जीवनानंद और जीवनी-शक्ति से सराबोर हैं। ओलिंपस की तरह ही इनके देवी-देवता भी बहुत मानवीय हैं; वे नीचे उतर कर स्त्री-पुरुषों से मिलते-जुलते हैं, इन दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। इसके बाद विचार का प्रवेश होता है और साथ ही जिज्ञासा वृत्ति उभरने लगती है और लोकोत्तर विश्व का रहस्य गहराने लगता है।

इस प्रकार और स्थानों की ही तरह हमें भारत में भी विचार और कर्म की ये दो समानांतर विकसित होती धाराएँ दिखाई पड़ती हैं--एक जो जीवन को स्वीकार करती है और दूसरी जो ज़िंदगी से बच कर निकल जाना चाहती है। अलग-अलग युगों में कभी बल एक पर होता है और कभी दूसरी पर। परंतु इतना निश्चित है कि उस संस्कृति की मूल पृष्ठभूमि परलोकवादी या इस विश्व को निरर्थक मानने वाली नहीं है। जब दार्शनिक शब्दावली में इसने विश्व की व्याख्या माया के रूप में की जिसे सामान्य रूप से भ्रम समझा जाता है, तो वह अवधारणा भी निरपेक्ष नहीं थी। उसे चरम सत्य विषयक विचार की सापेक्षता में माया कहा गया था (कुछ-कुछ प्लेटो द्वारा निरूपित सत्य की परछाईं के अर्थ में)। उन्होंने विश्व को उसके यथावत् रूप में ग्रहण किया, उसमें उपस्थित जीवन को जीने का प्रयास किया और उसके नानारूप सौंदर्य का उपभोग किया।

जब भी भारत की सभ्यता में बहार आई, तब ऐसे हर दौर में जीवन और प्रकृति में लोगों ने गहरा रस लिया, जीने की प्रक्रिया में आनंद लिया। ऐसे ही युगों में कला, संगीत और साहित्य, साथ ही गाने-नाचने की कला, चित्रकला और रंगमंच सब का विकास हुआ। यहाँ तक कि यौन-संबंधों के बारे में बहुत बारीकी से जाँच-पड़ताल की गई। इस बात को ग्रहण करना मुमकिन नहीं है कि कोई संस्कृति या जीवन-दृष्टि, जिसका आधार पारलौकिकता हो या जो विश्व को व्यर्थ मानती हो वह सशक्त और विविधतापूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के इतने रूपों की

रचना कर सकती थी। यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि कोई संस्कृति जो बुनियादी तौर पर पारलौकिकतावादी होगी वह हजारों वर्ष बनी नहीं रह सकती।

संश्लेषण और समायोजन : वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

जाति-भेद का आरंभ आर्यों और अनार्यों के बीच स्पष्ट विभाजन से हुआ। अनार्यों का विभाजन पुनः द्रविड़ जातियों और आदिम जातियों में हो गया। शुरू में आर्यों में सिर्फ एक वर्ग था और उनके बीच शायद ही विशेषज्ञता को लेकर कोई बँटवारा रहा हो। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति जिस धातु से हुई है, उसका अर्थ है जोतना। आर्य जाति के सभी लोग खेतिहर थे और खेती-बाड़ी कुलीन पेशा समझा जाता था। खेती करने वाला ही पुरोहित, सैनिक या व्यापारी होता था और पुरोहितों को विशेष अधिकार प्राप्त नहीं थे। मूल रूप में जो वर्ण-भेद आर्यों को अनार्यों से अलगाने के लिए आरंभ हुआ था उसकी प्रतिक्रिया बाद में स्वयं आर्यों पर हुई। जैसे-जैसे नए धंधे और उनमें विशेषज्ञता बढ़ती गई, नए वर्गों ने जातियों का रूप ले लिया।

ऐसे समय में जब इस बात का रिवाज था कि विजेता या तो पराजित जनता को खत्म कर देते थे या फिर गुलाम बना लेते थे, जाति-व्यवस्था ने एक शांतिपूर्ण हल प्रस्तुत किया। धंधों में बढ़ती हुई विशेषज्ञता से इसमें सहायता मिली। समाज में दर्जे बन गए। खेतिहर समाज में से वैश्य बने जो किसान, कारीगर और व्यापारी थे, क्षत्रिय बने जो शासक और सैनिक थे; और ब्राह्मण बने जो पुरोहित और विचारक थे, जिनसे आशा की जाती थी कि वे नीति-निर्धारण करेंगे और राष्ट्र के आदर्शों की रक्षा करेंगे और उन्हें कायम रखेंगे। इन तीनों से नीचे शूद्र या मज़दूर थे और अप्रशिक्षित श्रमिक थे, जो किसानों से अलग थे। देशी जातियों में से कुछ को धीरे-धीरे मिलाकर इस समाज-व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर शूद्रों के बीच स्थान दे दिया गया। मिलाने की यह प्रक्रिया बराबर

चलती रही। इन जातियों में लचीलापन रहा होगा, सख़्ती से विभाजन बहुत बाद में हुआ। शायद शासक वर्ग को हमेशा बहुत छूट रहती थी। कोई भी व्यक्ति युद्ध में विजय हासिल करके या और किसी तरह शक्तिशाली हो जाता था, तो यदि वह चाहता तो क्षत्रियों के वर्ग में शामिल हो जाता था और पुरोहितों से अपनी ऐसी वंशावली तैयार करा लेता था जो उसका संबंध किसी पुराने आर्य वीर पुरुष से जोड़ देती थी।

धीरे-धीरे आर्य शब्द का जातिगत अर्थ नहीं रह गया और उसका अर्थ हो गया 'कुलीन'। ठीक उसी तरह जैसे अनार्य का अर्थ नीच हो गया और इस शब्द का प्रयोग प्रायः खानाबदोश जातियों और जंगलवासियों आदि के लिए किया जाने लगा।

भारतीय मानस में विश्लेषण करने की असाधारण क्षमता थी। उसमें विचारों और अवधारणाओं, यहाँ तक कि जीवन के क्रियाकलापों को अलग-अलग खानों में बाँट कर रखने की धुन रही है। आर्यों ने समाज को ही चार मुख्य वर्गों में नहीं बाँटा, बल्कि व्यक्ति के जीवन को भी चार भागों में बाँट दिया : पहले भाग में विकासकाल और किशोरावस्था यानी विद्यार्थी-जीवन आता है। इस दौरान व्यक्ति ज्ञानार्जन करता है, आत्मानुशासन और आत्म-नियंत्रण का अभ्यास करता है। यह ब्रह्मचर्य अवस्था होती है। दूसरी अवस्था में वह गृहस्थ और दुनियादारी निभाता है; तीसरी अवस्था में वह एक ऐसी बुजुर्ग राजनेता की भूमिका निभाता है जिसने निश्चित संतुलन और तटस्थता अर्जित कर ली हो। ऐसा व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ की चिंता किए बिना अपने को सार्वजनिक कार्यों के लिए समर्पित कर देता है। अंतिम अवस्था एकांतवास की होती है जिसमें व्यक्ति सांसारिक क्रियाकलापों से कटा हुआ जीवन बिताता है। इस तरह उन्होंने दो ऐसी विरोधी प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जो प्रायः व्यक्ति में एक-दूसरे के समानांतर बनी रहती है—समग्रता में जीवन का स्वीकार और अस्वीकार।

ब्राह्मण वर्ग ने अतीत में विशेषाधिकार प्राप्त और सुरक्षित वर्ग के लिए सब तरह के संभव दुर्गुणों का प्रमाण दिया। उनमें से बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थी जिनके पास न ज्ञान था और न गुण। फिर भी उन्होंने काफी हद तक जनता से आदर पाया। इसलिए नहीं कि उनके पास सांसारिक शक्ति और संपत्ति थी, बल्कि इसलिए कि उन्होंने विद्वानों के असाधारण वंशक्रम को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त उनकी समाज-सेवा और लोक-मंगल के लिए उनका व्यक्तिगत त्याग उल्लेखनीय रहा। इस पूरे वर्ग को हर युग में अपने नेताओं के व्यक्तित्व के आदर्श का लाभ मिला। फिर भी जनता ने किसी आधिकारिक पद की बजाय गुणों को सम्मानित किया। किसी भी ऐसे व्यक्ति को सम्मान देने की परंपरा रही जो ज्ञानी हो और भला हो। ऐसे लोगों के अनगिनत उदाहरण हैं जो ब्राह्मण नहीं थे। ऐसे भी लोग थे जिनका संबंध दलित वर्ग से था, पर जिन्हें इस प्रकार का सम्मान मिला। कभी-कभी उन्हें संत का दर्जा दिया गया। सरकारी पद और सैनिक शक्ति को इसी मात्रा में आदर नहीं मिला, उनका रौब भले ही रहा हो।

आज इस अर्थ-प्रधान युग में भी, इस परंपरा का प्रभाव स्पष्ट है। इसी कारण आज गांधी जी (जो ब्राह्मण नहीं हैं) भारत के सबसे बड़े नेता हो सकते हैं और बिना किसी ज़ोर ज़बरदस्ती के, और बिना सरकारी पद और धन-संपदा के करोड़ों लोगों के दिलों को प्रभावित कर सकते हैं। किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उसके सचेतन और उपचेतन आदर्श की इससे बेहतर कसौटी दूसरी नहीं हो सकती कि वह किस तरह के नेता को अपनी निष्ठा अर्पित करता है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता या भारतीय-आर्य संस्कृति का केन्द्रीय विचार 'धर्म' था। धर्म-विषयक यह विचार अंग्रेजी के 'रिलिजन' या पंथ की अपेक्षा कहीं अधिक अर्थवान था; धर्म संबंधी अवधारणा एक प्रकार का दायित्व-बोध था जिसके तहत व्यक्ति से अपेक्षा की जाती थी कि वह स्वयं अपने प्रति और दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करे। यह धर्म स्वयं 'ऋत' का अंश था। 'ऋत'

जो विश्व और जो कुछ विश्व के अंतर्गत है उस सबका नियमन करने वाला मूल नैतिक नियम है। यदि कोई ऐसी व्यवस्था है तो मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसका हिस्सा होकर इस प्रकार आचरण करे ताकि उस व्यवस्था के साथ उसका सामंजस्य बना रहे।

भारतीय संस्कृति की निरंतरता

इस प्रकार हमें आरंभ में ही एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति की शुरुआत दिखाई पड़ती है जो आने वाले समय में खूब फूली-फली और समृद्ध हुई और जो तमाम परिवर्तनों के बावजूद आज भी बनी हुई है। इसी समय मूल आदर्श, नियामक अवधारणाएँ आकार ग्रहण करने लगती हैं और साहित्य और दर्शन, कला और नाटक तथा जीवन के और तमाम क्रियाकलाप इन आदर्शों और विश्व-दृष्टि के अनुकूल चलने लगते हैं। इसी समय उस विशिष्टतावाद और छुआछूत की प्रवृत्ति का आरंभ दिखाई पड़ता है जो बाद में बढ़ते-बढ़ते असह्य हो जाती है और 'अष्टभुज' की तरह सबको जकड़ लेती है। यही प्रवृत्ति आधुनिक युग की जाति-व्यवस्था है। यह व्यवस्था एक खास युग की परिस्थिति के लिए बनाई गई। इसका उद्देश्य था उस समय की समाज-व्यवस्था को मजबूत बनाना और उसे शक्ति और संतुलन प्रदान करना। किन्तु बाद में यह उसी समाज व्यवस्था और मानव-मन के लिए कारागृह बन गई। आने वाले समय में सुरक्षा के लिए चरम विकास का मूल्य चुकाया गया।

फिर भी यह व्यवस्था लंबे समय तक बनी रही। उस ढांचे के भीतर बँधे रहते हुए भी सभी दिशाओं में विकास करने की मूल प्रेरणा इतनी प्राणवान थी कि उसका प्रसार सारे भारत में और उससे आगे बढ़कर पूर्वी समुद्रों तक हुआ। यह व्यवस्था इस कदर मज़बूत थी कि बार-बार धक्के और आक्रमण सहकर भी इसका वजूद बना रहा।

इतिहास के इस लंबे दौर में भारत अलग-थलग नहीं रहा। ईरानियों और यूनानियों से, चीनी और मध्य एशियाई तथा अन्य लोगों से उसका संपर्क बराबर बना रहा। इन संपर्कों के बावजूद यदि उसकी मूल संस्कृति जीवित रही, तो ज़ाहिर है कि उस संस्कृति की कोई निजी विशेषता कोई भीतरी शक्ति और जीवन की समझ अवश्य रही होगी जिसने उसे बने रहने की सक्रिय शक्ति दी। तीन-चार हज़ार वर्षों का यह सांस्कृतिक विकास और उसका अटूट सिलसिला अद्‌भुत है।

उपनिषद्

उपनिषद् जिनका समय ई.पू. 800 के आसपास से माना जाता है, हमें भारतीय-आर्यों के चिंतन में एक कदम और आगे ले जाते हैं और यह एक लंबा कदम है।

उपनिषदों में जाँच-पड़ताल की चेतना, मानसिक साहसिकता, और चीज़ों के बारे में सत्य की खोज के उत्साह की सहज प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यह सही है कि सत्य की यह खोज आधुनिक विज्ञान की वस्तुनिष्ठ पद्धति से नहीं की गई, फिर भी उनके दृष्टिकोण में वैज्ञानिक पद्धति का तत्त्व मौजूद है। यह किसी किस्म के हठवाद को अपने रास्ते में नहीं आने देते। उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो साधारण है और आज हमारे लिए उसका न कोई अर्थ रह गया है न प्रासंगिकता। उनका ज़ोर अनिवार्य रूप से आत्म-बोध पर है, व्यक्ति की आत्मा और परमात्मा संबंधी ज्ञान पर है। इन दोनों को मूलतः एक कहा गया है। बाह्य वस्तुजगत को मिथ्या तो नहीं कहा गया पर उसे सापेक्ष रूप में सत्य कहा गया है, आंतरिक सत्य के एक पहलू के अर्थ में।

उपनिषदों में बहुत-सी बातें अस्पष्ट हैं, और उनकी अलग-अलग व्याख्याएँ की गई हैं। परन्तु यह किसी दार्शनिक या विद्वान की चिंता का विषय है। उनका

सामान्य झुकाव अद्वैतवाद की ओर है और सारे दृष्टिकोण का इरादा यही मालूम होता है कि उस समय जिन मतभेदों के कारण भयंकर वाद-विवाद हो रहे थे उन्हें किसी तरह कम किया जाय। यह समंजन का रास्ता है। जादू-टोने में दिलचस्पी या उसी किस्म के लोकोत्तर ज्ञान को सख़्ती से निरुत्साहित किया गया है, और बिना सच्चे ज्ञान के कर्म-कांड और पूजा-पाठ को व्यर्थ बताया गया है।

शायद वैयक्तिक पूर्णता की नीति पर अतिरिक्त बल दिया गया। परिणामतः सामाजिक दृष्टिकोण को नुकसान पहुँचा। उपनिषदों का कहना है, "व्यक्ति से बढ़कर कुछ नहीं है।" यह मान लिया गया कि समाज में स्थिरता आ गई है अतः मनुष्य का मन लगातार व्यक्ति की पूर्णता पर विचार करता रहा। इसकी खोज में आकाश की ऊँचाइयों और हृदय की अंतरतम गहराइयों में भटकता रहा।

उपनिषदों की सबसे प्रमुख विशेषता है सच्चाई पर बल देना। "जीत हमेशा सच्चाई की होती है, झूठ की नहीं। परमात्मा की ओर जाने वाला रास्ता सच्चाई से ही होकर जाता है।" उपनिषदों की मशहूर प्रार्थना में प्रकाश और ज्ञान की ही कामना की गई है : 'असत् से मुझे सत् की ओर ले चल। अंधकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चल। मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चल।'

बार-बार हमें एक बेचैन मन झांकता दिखाई पड़ता है जो निरंतर किसी खोज में किसी प्रश्न का उत्तर पाने में लगा है 'किस के आदेश से मन ने अपने विषय को आलोकित किया होगा? किसकी आज्ञा से सबसे पहले जीवन आगे बढ़ता है? किसके आदेश से मानव यह वचन बोलता है? वह कौन-सा ईश्वर है जिसने सचमुच आँख कान को दिशा दी होगी?' और फिर--'वायु आखिर स्थिर क्यों नहीं रह सकती? मानव मन को चैन क्यों नहीं मिलता? क्यों, और किसकी तलाश में पानी बहता है और वह अपने प्रवाह को क्षण-भर के लिए भी नहीं रोक सकता?' यह मनुष्य की साहसिकता है जो बराबर उसका आह्वान करती रहती है। न वह रास्ते में दम लेता है और न उसकी यात्रा का कोई अंत है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में इस लंबी अनंत अनिवार्य यात्रा के बारे में एक स्तोत्र है। हर श्लोक का अंत इस टेक से होता है—'चरैवेति, चरैवेति,' हे यात्री, इसलिए चलते रहो, चलते रहो।'

व्यक्तिवादी दर्शन के लाभ और हानियाँ

उपनिषदों में बराबर इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि कारगर रूप से प्रगति करने के लिए ज़रूरी है कि शरीर स्वस्थ हो, मन स्वच्छ हो और तन-मन दोनों अनुशासन में रहें। ज्ञानार्जन या और किसी भी तरह की उपलब्धि के लिए संयम, आत्मपीड़न और आत्मत्याग ज़रूरी है। इस प्रकार की तपस्या का विचार भारतीय चिंतन में सहज रूप से निहित है। यह विचार चोटी के विचारकों से लेकर सामान्य अनपढ़ जनता तक सब में समान रूप से मिलता है। यह आज भी उसी तरह वर्तमान है जैसे हज़ारों साल पहले था। गांधी जी के नेतृत्व में जिन जनांदोलनों ने भारत को हिला दिया उनके पीछे जो मनोवृत्ति काम करती रही है उसकी सही समझ के लिए इस विचार को समझना ज़रूरी है।

ज़िन्दगी की लंबी दौड़ में भारतीय आर्यों के इस गहन व्यक्तिवाद के अच्छे-बुरे दोनों तरह के परिणाम हुए, जो उनकी संस्कृति ने पैदा किए। उसने बहुत ऊँचे पायदार लोग पैदा किए इतिहास के किसी विशेष सीमित दौर में ही नहीं, बल्कि बार-बार—एक के बाद एक युग में। इस विचार ने पूरी संस्कृति को एक आदर्शवादी और नैतिक आधार दिया, जो बाद में बनी रही और आज भी बनी हुई है, यद्यपि हमारे व्यवहार पर उसका विशेष प्रभाव नहीं है। इस पृष्ठभूमि की मदद से और ऊँचे लोगों की मिसाल की ताकत से उन्होंने सामाजिक ढाँचे को संगठित रखा और जब भी उसके टूटने की आशंका हुई, इसे बार-बार पुनर्स्थापित किया। उन्होंने अद्भुत रूप से समृद्ध सभ्यता और संस्कृति पैदा की जो यद्यपि ऊँचे तबकों तक सीमित थी, फिर भी कुछ सीमा तक जनता के बीच

भी फैली। अपने से भिन्न औरों के विश्वासों और जीवन-शैलियों के प्रति चरम सहनशीलता के कारण वे उन झगड़ों को बचाते रहे जो अक्सर समाज को खंड-खंड कर देते हैं। इस तरह उन्होंने एक तरह का संतुलन बनाए रखा। एक व्यापक ढाँचे के भीतर रहते हुए भी लोगों को अपनी पसंद की ज़िंदगी बसर करने की काफ़ी छूट देकर उन्होंने एक प्राचीन और अनुभवी जाति की समझदारी का परिचय दिया। उनकी ये उपलब्धियाँ बहुत अनोखी थीं।

लेकिन उनके इसी व्यक्तिवाद का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने मनुष्य के सामाजिक पक्ष पर, समाज के प्रति उसके कर्तव्य पर बहुत कम ध्यान दिया। हर व्यक्ति के लिए जीवन बँटा और बँधा हुआ था। तारतमिक महत्त्व-क्रम के संकीर्ण दायरे में वह कर्तव्यों और ज़िम्मेदारियों का पुलिंदा बन कर रह गया। उसके मन में एक समग्र समाज की न कोई कल्पना थी न उसके प्रति कोई दायित्व-बोध था। इस बात का भी कोई प्रयास नहीं किया गया कि वह समाज के साथ एकात्मता महसूस करे। इस विचार का विकास शायद आधुनिक युग में हुआ। किसी प्राचीन समाज में यह नहीं मिलता। इसलिए प्राचीन भारत में इसकी उम्मीद करना गैरमुनासिब होगा। फिर भी व्यक्तिवाद, अलगाववाद और ऊँच-नीच पर आधारित जातिवाद पर भारत में कहीं अधिक बल दिया जाता रहा। बाद में हमारी जनता का दिमाग इस प्रवृत्ति का बंदी बन गया। केवल नीची जाति के लोग ही नहीं, जिन्होंने इसके कारण बेहद दुख भोगा, बल्कि ऊँची जाति के लोग भी इसके शिकार हुए। हमारे पूरे इतिहास में यह एक बहुत बड़ी कमज़ोरी रही। यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था में सख़्ती के बढ़ने के साथ-साथ हमारी बौद्धिक जड़ता बढ़ती गई और जाति की रचनात्मक शक्ति धुँधलाती चली गई।

भौतिकवाद

हमारा बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि हमने यूनान में, भारत में और दूसरे भागों

में भी विश्व के प्राचीन साहित्य के एक बहुत बड़े हिस्से को खो दिया है। यह शायद इसलिए ज़रूरी हो गया क्योंकि उन ग्रंथों को आरंभ में ताड़-पत्रों पर या भोज-पत्रों पर लिखा गया। यह पत्र भूर्ज-वृक्ष की छाल होती है और बहुत आसानी से उतर जाती है। बाद में कागज़ पर लिखने का चलन हुआ। किसी भी ग्रंथ की प्रतियाँ गिनती की होती थीं और अगर ये प्रतियाँ खो जातीं या नष्ट हो जातीं तो वह रचना गुम हो जाती थी। उसका पता केवल दूसरी पुस्तकों में उसके बारे में दिए गए हवालों या उद्धरणों से ही लगता था। फिर भी, संस्कृत की लगभग पचास-साठ हज़ार पाण्डुलिपियों और उनके रूपांतरों का पता लग चुका है। उनकी सूचियाँ बन चुकी हैं और नई खोजें बराबर जारी हैं। बहुत-सी प्राचीन भारतीय पुस्तकें अब तक भारत में नहीं मिलीं, पर चीनी और तिब्बती भाषा में उनके अनुवाद मिल गए हैं।

जो पुस्तकें खो गई हैं, उनमें भौतिकवाद पर लिखा गया पूरा साहित्य है, जिसकी रचना आरंभिक उपनिषदों के ठीक बाद हुई थी। इस साहित्य का हवाला अब सिर्फ इनकी आलोचनाओं में मिलता है या फिर भौतिकवादी सिद्धांतों के खंडन के विशद प्रयास में मिलता है। फिर भी, इस बात में कोई संदेह नहीं है कि भारत में सदियों तक भौतिकवादी दर्शन का प्रचलन रहा और जनता पर उस समय उसका गहरा प्रभाव रहा। राजनीतिक और आर्थिक संगठन पर ई.पू. चौथी शताब्दी में रचित कौटिल्य की प्रसिद्ध रचना अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख भारत के प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत के रूप में किया गया है।

हमें इसके बारे में जानकारी के लिए उन आलोचकों और व्यक्तियों पर भरोसा करना पड़ता है जिनकी दिलचस्पी इस दर्शन की निंदा करने में थी। उन्होंने इसका उपहास करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह कुल मिलाकर कितना अनर्गल है। इस दर्शन के बारे में जानने का यह तरीका दुर्भाग्यपूर्ण है। फिर भी इसके खंडन करने के लिए जो उत्साह दिखाया गया है

उससे यह स्पष्ट होता है कि उन लोगों की दृष्टि में इसका कितना महत्त्व था। संभवतः भारत में भौतिकवाद के बहुत से साहित्य को पुरोहितों और धर्म के पुराणपंथी स्वरूप में विश्वास करने वाले लोगों ने बाद में नष्ट कर दिया।

भौतिकवादियों ने विचार, धर्म और ब्रह्मविज्ञान के अधिकारियों और सभी निहित स्वार्थों का विरोध किया। उन्होंने वेदों, पुरोहिताई और परंपरा-प्राप्त विश्वासों की निंदा करते हुए यह घोषणा की कि विश्वास को स्वतंत्र होना चाहिए और पहले से मान ली गई बातों या अतीत के प्रमाणों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। उन्होंने हर तरह के जादू-टोने और अंधविश्वास की घोर निंदा की। उनका सामान्य रुख अनेक दृष्टियों से आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण जैसा था। वे अपने आपको अतीत की बेड़ियों और बोझ से मुक्त करना चाहते थे—उन तमाम बातों से जो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती और काल्पनिक देवताओं की पूजा से भी। अस्तित्व केवल उसका स्वीकार किया जा सकता था जो प्रत्यक्ष दिखाई दे। उसके अलावा हर तरह की कल्पना और अनुमान समान रूप से सच भी हो सकते हैं और झूठ भी। इसलिए वास्तविक अस्तित्व केवल विभिन्न रूपों में वर्तमान पदार्थ का और इस संसार का ही माना जा सकता है। इसके अलावा न कोई संसार है, न स्वर्ग और नरक है और न ही शरीर से अलग कोई आत्मा। मन और बुद्धि और बाकी सब चीज़ों का विकास बुनियादी तत्त्वों से हुआ है। प्राकृतिक व्यापारों का मानवीय मूल्यों से कोई सरोकार नहीं था। जिसे हम अच्छा या बुरा समझते हैं, उसके प्रति वे पूर्णतः उदासीन रहते हैं। नैतिक नियम मनुष्य के द्वारा बनाई गई रूढ़ियाँ मात्र हैं।

महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और मिथक

प्राचीन भारत के दो महाकाव्यों—रामायण और महाभारत को रूप ग्रहण करने में शायद सदियाँ लगी होंगी और उनमें बाद में भी टुकड़े जोड़े जाते रहे। इन

ग्रंथों में भारतीय-आर्यों के आरंभ के समय का वृत्तांत है। उनकी विजयों और उस समय के गृहयुद्धों का जब वे अपना विस्तार कर रहे थे और अपनी स्थिति मज़बूत कर रहे थे। किंतु इन महाकाव्यों की रचना और संग्रह बहुत बाद में हुआ। मुझे इनके अलावा कहीं भी किन्हीं ऐसी पुस्तकों की जानकारी नहीं है जिन्होंने आम जनता के मन पर लगातार इतना व्यापक प्रभाव डाला हो। इतने प्राचीन समय में रची जाने के बावजूद, भारतीयों के जीवन पर आज भी इनका जीवंत प्रभाव दिखाई पड़ता है। मूल संस्कृत में तो इनकी पहुंच गिने-चुने बुद्धिजीवियों तक ही है, किन्तु अनुवादों और रूपांतरों के माध्यम से तथा उन तमाम और तरीकों से भी जिनसे परंपरा और दंतकथाएँ फैलकर जन-जीवन के ताने-बाने में रस बस जाती हैं ये दोनों ग्रंथों भारतीय जीवन का अंग बन गए हैं।

इनमें हमें सांस्कृतिक विकास की विभिन्न श्रेणियों के लिए ठेठ भारतीय ढंग से एक साथ सामग्री उपलब्ध है अर्थात् उच्चतम बुद्धिजीवी से लेकर साधारण अपढ़ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके द्वारा हमें प्राचीन भारतीयों का वह रहस्य कुछ-कुछ समझ में आता है जिससे वे अनेक रूपों में विभाजित और जात-पांत की ऊँच-नीच में बंटे समाज को एकजुट रखते थे। इनके मतभेदों को सुलझाते थे और उन्हें वीर-परंपरा और नैतिक जीवन की समान पृष्ठभूमि प्रदान करते थे। उन्होंने लोगों में एकता का ऐसा नज़रिया पैदा करने का प्रयत्न किया जो हर तरह के भेद-भाव पर छा गया और बरकरार बना रहा।

भारतीय पुरा-कथाएँ महाकाव्यों तक सीमित नहीं हैं। उनका इतिहास वैदिक काल तक जाता है और ये अनेक रूप-आकारों में संस्कृत साहित्य में प्रकट होती रही हैं। कवियों और नाटककारों ने इनका पूरा लाभ उठाते हुए अपनी कथाओं और सुंदर कल्पनाओं की रचना इनके आधार पर की है। कहा जाता है कि अशोक वृक्ष किसी सुंदर स्त्री के चरण-स्पर्श से फूल उठता है। हम पत्नि रति और मित्र बसंत देव के साथ प्रेम के देवता कामदेव की रोमांचक कथाएँ पढ़ते हैं।

दुस्साहसी काम स्वयं शिव पर अपने पुष्प-बाण का प्रयोग करता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली ज्वाला से भस्म हो जाता है। पर अंततः वह अनंग रूप यानी अशरीरी रूप में जीवित रहता है।

अधिकांश पुरा-कथाएँ और प्रचलित कहानियाँ वीरगाथात्मक हैं। उनमें सत्य पर अड़े रहने और वचन के पालन का उपदेश दिया गया है चाहे परिणाम कुछ भी हो। साथ ही इनमें जीवन पर्यन्त और मरणोपरांत भी वफ़ादारी, साहस और लोक-हित के लिए सदाचार और बलिदान की शिक्षा दी गई है। कभी ये कहानियाँ पूर्णतः काल्पनिक होती हैं अन्यथा इनमें तथ्य और कल्पना का मिश्रण रहता है जिनमें किसी घटना या परंपरा का अतिशयोक्तिपूर्ण ब्यौरा सुरक्षित रहता है। तथ्य और कल्पना परस्पर इस प्रकार गुंथे रहते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता, और यह सम्मिश्रण काल्पनिक इतिहास का रूप ग्रहण कर लेता है, जो हमें यह भले ही न बता सके कि निश्चित रूप से क्या घटित हुआ पर ऐसी बात की सूचना देता है जिसका समान महत्त्व है यानी लोग जिसके घटित होने का विश्वास करते हैं। अर्थात् उनके विचार में उनके वीर पूर्वज कैसे कार्य करने में समर्थ थे, और उन्हें कैसे आदर्श प्रेरित करते थे। इसलिए चाहे ये घटनाएँ वास्तविक हों या काल्पनिक, उनके जीवन में इनकी स्थिति जीवंत तत्त्वों की हो जाती थी जो उन्हें रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की एकरसता और कुरूपता से खींचकर उच्चतर क्षेत्रों की ओर ले जाती हैं। लक्ष्य कितना ही दूर और पहुँच के लिए कठिन रहा हो लेकिन ये उन्हें बराबर उद्यम और सही जीवन का रास्ता दिखाते रहे।

यूनानियों, चीनियों और अरबवासियों की तरह प्राचीन काल में भारतीय इतिहासकार नहीं थे। यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण बात थी और इसी कारण हमारे लिए आज तिथियाँ निश्चित करना या सही कालक्रम निर्धारित करना कठिन हो गया है। घटनाएं आपस में गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। एक-दूसरे पर हावी होकर बहुत

अधिक उलझन पैदा करती हैं। बहुत धीमी गति से आधुनिक विद्वान धैर्यपूर्वक भारतीय इतिहास की भूलभुलैया के सूत्रों की खोज कर रहे हैं। वस्तुतः कल्हण की "राजतरंगिनी" एकमात्र प्राचीन ग्रंथ है जिसे इतिहास माना जा सकता है। यह कश्मीर का इतिहास है जिसकी रचना ईसा की बारहवीं शताब्दी में की गई थी। बाकी के लिए हमें महाकाव्यों और अन्य ग्रंथों के कल्पित इतिहास, कुछ समकालीन अभिलेखों, शिलालेखों, कलाकृतियों और इमारतों के अवशेषों, सिक्कों, और संस्कृत साहित्य के विशाल संग्रह से सहायता लेनी पड़ती है, जिनसे यदा-कदा कुछ संकेत मिल जाते हैं। इसके साथ ही विदेशी यात्रियों के सफ़रनामों से भी सहायता मिलती है। विशेष रूप से यूनानियों और चीनियों के और कुछ बाद में आने वाले अरबों के विवरणों से।

ऐतिहासिक बोध के इस अभाव का जनता पर प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा और जगह होता है। बल्कि और जगहों से भी अधिक यहाँ की जनता ने अतीत के विषय में अपनी दृष्टि का निर्माण उन परंपरागत वृत्तांतों और पौराणिक गाथाओं और कहानियों के आधार पर कर लिया जो उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत में मिली थीं। इस काल्पनिक इतिहास तथा तथ्यों और दंतकथाओं के इस मिश्रित रूप का व्यापक प्रचार हुआ। इनसे जनता को एक मज़बूत और टिकाऊ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मिली। लेकिन इतिहास की उपेक्षा के परिणाम अच्छे नहीं हुए जिन्हें हम आज तक भोग रहे हैं। इससे हमारे दृष्टिकोण में धुँधलापन पैदा हुआ। ज़िंदगी से अलगाव पैदा हुआ और जहाँ तक तथ्यों का संबंध था, उनके बारे में दिमागी उलझन और सहज विश्वास करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। दर्शन के कहीं अधिक कठिन, अनिवार्यतः अस्पष्ट और अधिक अनिश्चित क्षेत्र के संदर्भ में दिमाग में कहीं कोई उलझन नहीं थी। इस विषय में भारतीय मानस में विश्लेषण और समन्वय दोनों की सामर्थ्य थी। अक्सर वह बहुत छिद्रान्वेषी और कभी-कभी संदेहशील दिखाई पड़ता है। पर जहाँ तथ्यों का सवाल आता है वह आलोचना

नहीं करता क्योंकि शायद वह कुल मिलाकर तथ्यों को बहुत महत्त्व नहीं देता था।

महाभारत

महाकाव्य के रूप में रामायण एक महान रचना है और लोग उससे बहुत प्रेम करते हैं; परंतु वस्तुतः यह महाभारत ही है जिसका दर्जा विश्व की श्रेष्ठतम रचनाओं में से है। यह एक विराट कृति है, परंपरा और दंत-कथाओं का, तथा प्राचीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का विश्वकोश है। लगभग दस वर्ष बल्कि उससे भी कुछ अधिक समय से इस विषय के अधिकारी भारतीय विद्वान इसका प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने की दृष्टि से विभिन्न उपलब्ध पाठों की जाँच और मिलान करने में व्यस्त हैं। उन्होंने कुछ अंश प्रकाशित करके जारी भी कर दिए हैं लेकिन यह कार्य अब भी अधूरा है और जारी है। यह दिलचस्प बात है कि व्यापक और भयानक-युद्ध के इस कठिन समय में प्राच्य विद्या के विद्वानों ने महाभारत का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया है।

शायद यही समय था जब भारत में विदेशी लोग आ रहे थे और वे अपने रीति-रिवाज अपने साथ ला रहे थे। इनमें बहुत से रिवाज आर्यों से मेल नहीं खाते थे। इसलिए विरोधी विचारों और रिवाजों का विचित्र घालमेल दिखाई पड़ता है। आर्यों में स्त्रियों के अनेक विवाह का चलन नहीं था, किन्तु महाभारत की कथा की एक विशेष नायिका एक साथ पाँच भाइयों की पत्नी है। धीरे-धीरे यहाँ पहले से मौजूद आदिवासियों के साथ नए आने वाले लोग भी आर्यों के साथ घुलमिल कर एक हो रहे थे, और इस नई स्थिति के अनुरूप वैदिक धर्म में संशोधन किया जा रहा था। इसने सबको समेट कर चलने वाला वह उदार व्यापक रूप ग्रहण कर लिया था जिससे आधुनिक हिन्दू-धर्म निकला।

यह इसलिए संभव हो सका क्योंकि बुनियादी नज़रिया यह जान पड़ता है

कि सत्य पर किसी का एकाधिकार नहीं हो सकता। उसे देखने और उस तक पहुँचने के बहुत रास्ते हैं। इसलिए सब तरह के अलग-अलग, यहाँ तक कि विरोधी विश्वासों को भी सहन कर लिया गया।

महाभारत में हिंदुस्तान की (या जिसे दंतकथाओं के अनुसार जाति के आदि पुरुष भरत के नाम पर भारतवर्ष कहा जाता है) बुनियादी एकता पर बल देने की निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम था आर्यावर्त्त, यानि आर्यों का देश। किन्तु यह नाम मध्य-भारत में विंध्य पर्वत तक फैले उत्तर-भारत के इलाके तक सीमित था। उस समय तक शायद आर्य लोग विंध्य की पहाड़ियों के आगे नहीं बढ़े थे। रामायण की कथा दक्षिण में आर्यों के विस्तार की कहानी है। वह विराट गृहयुद्ध, जो बाद में हुआ और जिसका वर्णन महाभारत में किया गया है, उसके बारे में मोटे तौर से अंदाज़ लगाया गया है कि वह ईसा पूर्व चौदहवीं शताब्दी के आसपास हुआ होगा। वह लड़ाई भारत (या संभवतः उत्तरी भारत) पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए लड़ी गई थी। इसी लड़ाई से एक अखण्ड भारत की, भारतवर्ष की अवधारणा की शुरुआत हुई। इस अवधारणा के अनुसार आधुनिक अफगानिस्तान का बहुत बड़ा हिस्सा भारत में शामिल था, इस हिस्से को उस समय गांधार (जिससे वर्तमान कंदहार शहर का नाम पड़ा है) कहा जाता था, और उसे भारत का अभिन्न हिस्सा समझा जाता था। वास्तव में इसी कारण मुख्य शासक की पत्नी का नाम गांधारी यानि गांधार की कन्या पड़ा था। दिल्ली या देहली—आधुनिक शहर नहीं, बल्कि इस आधुनिक इलाके के निकट बसे हुए हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ नाम के पुराने शहर इसी समय भारत की राजधानी बने थे।

महाभारत में कृष्ण से संबद्ध आख्यान भी हैं और प्रसिद्ध काव्य-भगवद्गीता भी। गीता के दर्शन के अलावा, इस ग्रंथ में शासन कला और सामान्य रूप से जीवन के नैतिक और आचार संबंधी सिद्धांतों पर ज़ोर दिया गया है। धर्म की

इस बुनियाद के बिना न सच्चा सुख मिल सकता है और न समाज में एका रह सकता है। इसका लक्ष्य है लोक मंगल, किसी विशेष वर्ग का नहीं बल्कि पूरे विश्व का—क्योंकि "मर्त्यों की ये पूरी दुनिया एक आत्मनिर्भर संघटना है।" लेकिन धर्म स्वयं सापेक्ष है और सत्य-निष्ठा, अहिंसा आदि जैसे कुछ बुनियादी सिद्धांतों को छोड़कर खुद समय और मौजूदा परिस्थितियों पर निर्भर करता है। ये सिद्धांत टिकाऊ हैं और अपरिवर्तनशील भी, परंतु इसके अलावा धर्म—जो कर्तव्यों और ज़िम्मेदारियों का सम्मिश्रण है समय के साथ बदलता है। अहिंसा पर यहाँ और दूसरी जगहों पर भी जो बल दिया गया है, वह दिलचस्प है क्योंकि अहिंसा और किसी अच्छे मकसद के लिए संघर्ष करने में प्रत्यक्ष रूप से कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। पूरे महाकाव्य का केंद्र एक विराट युद्ध है। ज़ाहिर है इस प्रसंग में अहिंसा की अवधारणा का ज़्यादातर संबंध मकसद से था—यानी हिंसा की मानसिकता के अभाव से, आत्मानुशासन से, क्रोध और घृणा की भावना पर नियंत्रण से था। इस बात से नहीं था कि जब हिंसक कर्म ज़रूरी हो, उससे बचाव असंभव हो जाए तो भी शरीर को ऐसे काम से रोका जाए।

महाभारत एक ऐसा समृद्ध भण्डार है जिसमें अनेक अनमोल चीजें ढूँढी जा सकती हैं। यह विविधतापूर्ण, भरपूर और खदबदाती ज़िंदगी से सराबोर है, और इस दृष्टि से यह भारतीय विचारधारा के उस दूसरे पहलू से कोसों दूर है जिसमें तप और जीवन के नकार पर ज़ोर दिया गया है। यह केवल नैतिक शिक्षा की पुस्तक नहीं है यद्यपि इसमें नैतिकता और सदाचार काफ़ी है। महाभारत से मिलने वाली शिक्षा को एक वाक्य में इस रूप में सूत्रबद्ध किया गया है—"दूसरों के साथ ऐसा आचरण नहीं करो जो तुम्हें खुद अपने लिए स्वीकार्य न हो।" इसमें लोक-मंगल पर जो बल दिया गया है वह ध्यान देने योग्य है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि भारतीय मन का रुझान जितना वैयक्तिक पूर्णता हासिल करने की ओर है लोक-हित की ओर नहीं। महाभारत में कहा गया है—"जो बात लोक-हित

में नहीं है या जिसे करते हुए तुम्हें शर्म आए उसे कभी नहीं करना चाहिए" फिर कहा गया है—"सच्चाई, आत्म-संयम, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म का निरंतर पालन—सफलता के साधन हैं जाति और कुल नहीं।" "धर्म जीवन और अमरता से बड़ा है" "सच्चे आनंद के लिए दुख भोगना आवश्यक है।" धन के पीछे दौड़ने वाले पर व्यंग्य किया गया है—"रेशम का कीड़ा अपने धन के बोझ से ही मरता है।" और अंत में एक जीवित और विकासशील जनता के लिए आदेश है—"असंतोष प्रगति का प्रेरक है।"

भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अंश है—इस विराट नाटक की एक घटना। परंतु उसकी अपनी अलग जगह है और वह अपने आप में मुकम्मल है। यह 700 श्लोकों का एक छोटा सा काव्य है। विलियम वान हम्बोल्ट ने इसके बारे में लिखा है कि—"किसी भी जानी हुई भाषा में मिलने वाला यह सबसे सुंदर, शायद एकमात्र सच्चा दार्शनिक काव्य है।" इसकी रचना बौद्ध-काल से पहले हुई थी। तब से अब तक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव कम नहीं हुआ और आज भी भारत में इसके प्रति पहले जैसा आकर्षण बना हुआ है। विचार और दर्शन का हर संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है और अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है। संकट के समय, जब मनुष्य के मन को संदेह सताता है और वह कर्तव्य के बारे में दुविधाग्रस्त होता है तो वह प्रकाश और मार्गदर्शन के लिए गीता की ओर देखता है। क्योंकि यह संकट-काल के लिए लिखी गई कविता है—राजनीतिक और सामाजिक संकट के लिए और उससे भी अधिक मनुष्य की आत्मा के संकट के लिए। अतीत में गीता की असंख्य व्याख्याएँ की गईं और अब भी उसी तरह लगातार की जा रही हैं। आधुनिक युग के विचार और कर्म क्षेत्र के नेताओं तिलक, अरविन्द घोष, गांधी सभी ने इसकी अपनी ढंग से व्याख्या की है। गांधी

जी ने इसे अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का आधार बनाया है, औरों ने धर्म-कार्य के लिए हिंसा और युद्ध का औचित्य इसी के आधार पर सिद्ध किया है।

इस काव्य का आरंभ महाभारत का युद्ध आरंभ होने से पहले युद्ध-क्षेत्र में अर्जुन और कृष्ण के बीच संवाद से होता है। अर्जुन परेशान हैं। उसकी अंतरात्मा युद्ध और उसमें होने वाले व्यापक नर संहार के—मित्रों और संबंधियों के संहार के विचार के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है। आखिर यह किसलिए? कौन-सा ऐसा लाभ हो सकता है जो इस हानि, इस पाप का परिहार कर सके। उसकी पुरानी कसौटियाँ नाकाम हो जाती हैं, उसके मूल्य ढह जाते हैं। अर्जुन इंसान की उस पीड़ित आत्मा का प्रतीक बन जाता है जो युग-युग से कर्तव्यों और नैतिकता के तकाज़ों की दुविधा से ग्रस्त है। इस निजी बातचीत से हम एक-एक करके व्यक्ति के कर्तव्य, और सामाजिक आचरण, मानव जीवन में सदाचार और सबको नियंत्रित करने वाले आध्यात्मिक दृष्टिकोण जैसे उच्चतर और अधिक अवैयक्तिक विषयों की ओर बढ़ते हैं। गीता में ऐसा बहुत कुछ है जो आध्यात्मिक है। इसमें मानव विकास के तीन मार्गों ज्ञान, कर्म और भक्ति के बीच समन्वय करने का प्रयास किया गया है। बाकी दो की तुलना में भक्ति पर अधिक बल दिया गया है। यहाँ तक कि इसमें एक व्यक्तिगत ईश्वर का स्वरूप उभरता है, हालांकि उसे पूर्णरूप परमेश्वर का ही अवतार माना गया है। गीता में अनिवार्य रूप से मानव-अस्तित्व की आध्यात्मिक पृष्ठिभूमि का निरूपण किया गया है। रोज़मर्रा की ज़िंदगी की व्यावहारिक समस्याएँ इसी संदर्भ में सामने आती हैं। गीता में जीवन के कर्तव्यों के निर्वाह के लिए कर्म का आह्वान किया गया है, पर हमेशा आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और विश्व के बृहत्तर लक्ष्य को सामने रखते हुए। अकर्मण्यता की निन्दा की गई है और कहा गया है कि कर्म और जीवन को समय के उच्चतम आदर्शों के अनुरूप होना चाहिए, क्योंकि ये आदर्श समय-समय पर स्वयं ही बदल सकते हैं। युग धर्म, अर्थात् विशेष युग के अपने आदर्श को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

गीता का संदेश न सांप्रदायिक है और न ही किसी विशेष विचारधारा के लोगों को संबोधित करता है। इसकी दृष्टि सार्वभौमिक है, सबके लिए है, वह चाहे ब्राह्मण हो या अजात। उसमें कहा गया है–"सभी रास्ते मुझ तक आते हैं।" इसी सार्वभौमिकता के कारण गीता सभी वर्गों और संप्रदायों के लोगों के लिए मान्य हुई। इसमें कुछ ऐसा है जिसके बारे में लगता है कि उसका लगातार नवीकरण किया जा सकता है, और जो समय के साथ कभी पुराना नहीं पड़ता। यह तीव्र जिज्ञासा और खोज की, चिंतन और कर्म की, संघर्ष और विरोध के बावजूद संतुलन और समत्व बनाए रखने की आंतरिक विशेषता है। विषमता के बीच भी हमें उसमें एक प्रकार का संतुलन और एकता मिलती है। बदलती हुई परिस्थिति के प्रति उसका रुख विजेता का है–उससे बचकर नहीं बल्कि उसके साथ मेल बैठाकर। इसकी रचना के बाद ढाई हज़ार वर्षों में भारतवासी बार-बार परिवर्तन, विकास और ह्रास की प्रक्रिया से गुजरे हैं, उन्हें एक के बाद एक, तरह-तरह के अनुभव हुए हैं, एक के बाद एक विचार सामने आए हैं, पर उन्हें हमेशा गीता में कोई ऐसी जीवंत चीज़ मिली है जो विकसित होते विचारों से मेल खाती रही और जिसमें दिमाग़ को परेशान करने वाली आध्यात्मिक समस्याओं के बारे में ताजगी और उपयुक्तता बनी रही।

प्राचीन भारत में जीवन और कर्म

बुद्ध के समय से भी पहले का वृत्तांत हमें जातक-कथाओं में मिलता है। इन जातक कथाओं का वर्तमान रूप बुद्ध के कुछ समय बाद का है।

जातक-कथाओं में उस समय का वर्णन है जब भारत की दो प्रधान जातियों–द्रविड़ों और आर्यों का अंतिम रूप से मेल हो रहा था उनमें ऐसा "नानारूपात्मक और अस्तव्यस्त समाज दिखाई पड़ता है जिसके वर्गीकरण के लगभग सभी प्रयास नाकाम होंगे और उस युग की वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से,

किसी संगठन की कोई बात करना भी संभव नहीं होगा।" कहा जा सकता है कि जातक पुरोहित या ब्राह्मण परंपरा तथा क्षत्रिय या शासक परंपरा के विरोध में लोक-परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ग्राम-सभाएँ एक सीमा तक स्वतंत्र थीं। आमदनी का मुख्य ज़रिया लगान था। माना जाता था कि जमीन पर लगाया जाने वाला कर, उत्पादन में राजा का हिस्सा है। उसका भुगतान, हमेशा तो नहीं पर अक्सर गल्ले या पैदावार की शक्ल में किया जाता था। यह कर उपज के छठे भाग के करीब होता था। यह सभ्यता मुख्य रूप से कृषि केंद्रित थी और इसकी बुनियादी इकाई स्वशासित गाँव थे। राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा इन्हीं ग्राम-समुदायों से बनाया जाता था जिन्हें दस-दस और सौ-सौ के समूह में बाँट दिया जाता था।

जातकों के वर्णनों से एक खास तरह का विकास उभर कर सामने आता है। यह विशेष दस्तकारियों से जुड़े लोगों की अलग बस्तियों और गाँवों की स्थापना थी। इस तरह एक गाँव बढ़इयों का था, जिसमें कहा जाता है कि एक हज़ार परिवार थे; एक गाँव लोहारों का था। इसी तरह और पेशों के लोगों के गाँव थे। ये खास पेशेवर लोगों के गाँव आम तौर पर शहर के पास बसे होते थे। शहर में उनके विशेष उत्पादनों की खपत हो जाती थी और बदले में उन्हें ज़िंदगी की दूसरी ज़रूरतों को पूरी करने का सामान मिल जाता था। ऐसा लगता है कि पूरा गाँव सहकारिता के उसूल पर काम करता था और बड़े ठेके लेता था। शायद इस तरह अलहदा रहने और संगठित होने से जाति प्रथा का विकास और विस्तार हुआ होगा।

जातकों में सौदागरों की समुद्री यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। सूखे रास्तों से रेगिस्तान को पार करके भड़ौच के पश्चिमी बंदरगाह और उत्तर में गांधार और मध्य एशिया तक कारवाँ जाया करते थे। भड़ौच से जहाज़ बेबिलोन (बावेरू) के लिए फारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते बहुत

यातायात होता था। जातकों के अनुसार वेड़े बनारस, पटना, चम्पा (भागलपुर) और दूसरे स्थानों से समुद्र की ओर जाते थे और वहाँ से दक्षिणी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक।

भारत में लिखने की प्रथा वहुत पुरानी है। पाषाण युग के मिट्टी के पुराने बर्तनों पर ब्राह्मी लिपि के अक्षर मिले हैं। मोहनजोदड़ो में मिले शिलालेखों को अब तक पूरी तरह पढ़ा नहीं जा सका है। वे ब्राह्मी लेख जो पूरे भारत में मिले हैं निश्चित रूप से उस मूल लिपि में है जिससे भारत में देवनागरी और अन्य लिपियों का विकास हुआ है। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी लिपि में हैं, उत्तर-पश्चिम में मिलने वाले कुछ अन्य लेख खरोष्टी लिपि में हैं।

ईसा पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी में पाणिनि ने संस्कृत भाषा में अपने प्रसिद्ध व्याकरण की रचना की। उन्होंने अपने से पहले के व्याकरणों का उल्लेख किया है। उनके समय तक संस्कृत का रूप स्थिर हो चुका था और वह एक निरंतर विकासशील साहित्य की भाषा बन चुकी थी। पाणिनि की रचना व्याकरण मात्र नहीं है। लेनिनग्राद के रूसी प्रोफेसर टी. ज़ेरवात्स्की ने उसे "मानव मस्तिष्क की सबसे महान रचनाओं में से एक" कहा है। पाणिनि आज भी संस्कृत व्याकरण पर आधिकारिक प्रमाण माना जाता है, हालाँकि बाद के वैयाकरणों ने उसमें कुछ जोड़ा भी है और उसकी व्याख्या भी की है। यह दिलचस्प है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि का उल्लेख किया है। इससे संकेत मिलता है कि पूर्व दिशा में सिकंदर के आने से बहुत पहले भारत और यूनान के बीच किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

औषध-विज्ञान की पाठ्य पुस्तकें भी थीं और अस्पताल भी। अनुश्रुति है कि भारत में औषध-विज्ञान के जनक धन्वंतरि थे। किन्तु सबसे प्रसिद्ध पुरानी पाठ्य पुस्तकें ईस्वी सन् की शुरु की सदियों में लिखी गई। इनमें औषधि पर चरक की पुस्तकें हैं और शल्य-चिकित्सा पर सुश्रुत की। कहा जाता है कि चरक

उन राजा कनिष्क के दरबार में राजवैद्य थे जिनकी राजधानी पश्चिमोत्तर दिशा में थी। इन पाठ्य-पुस्तकों में बहुत-सी बीमारियों का जिक्र है और उनकी पहचान और इलाज के तरीके बताए गए हैं। इनमें शल्य-चिकित्सा, प्रसूति-विज्ञान, स्नान, पथ्य, सफ़ाई, बच्चों को खिलाने और चिकित्सा के बारे में शिक्षा को विषय बनाया गया है। लेखक का रुझान प्रयोगात्मक है, और शल्य-प्रशिक्षण के दौरान मुर्दों की चीर-फाड़ कराई जाती थी। सुश्रुत ने शल्यक्रिया के औज़ारों का जिक्र किया है, साथ ही ऑपरेशन का भी; जिसमें अंगों को काटना, पेट काटना, आपरेशन से बच्चे को जन्म दिलाना, मोतियाबिंद का ऑपरेशन आदि सब शामिल हैं। घावों के जीवाणुओं को धुआँ देकर मारा जाता था। ईसा पूर्व तीसरी चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। यह जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव था जिसमें अहिंसा पर बल दिया जाता था।

महाकाव्यों के युग में अक्सर वनों में एक तरह के विश्वविद्यालयों का जिक्र प्रायः किया गया है। ये कस्बे या शहर से बहुत दूर नहीं होते थे। इनमें प्रसिद्ध विद्वानों के आसपास शिक्षा-प्रशिक्षण के उद्देश्य से लोग इकट्ठे होते थे। शिक्षा में तरह-तरह के विषय शामिल थे जिनमें सैनिक-प्रशिक्षण भी होता था। इन वनाश्रमों को इसलिए पसंद किया जाता था क्योंकि यहाँ शहरी जीवन के आकर्षणों से बचाकर विद्यार्थियों के लिए नियमित और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना संभव होता था। कुछ वर्ष तक यहाँ प्रशिक्षण के बाद उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे वापिस लौटकर गृहस्थ और नागरिक जीवन बिताएँ। इन वन-शिक्षालयों में प्रायः छोटे-छोटे गुट रहते थे, गोकि इस बात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय अध्यापक बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को आकर्षित करते थे।

बनारस हमेशा शिक्षा का केन्द्र रहा। यहाँ तक कि बुद्ध के समय में भी वह प्राचीन केन्द्र माना जाता था।

किन्तु उत्तर-पश्चिम में, आधुनिक पेशावर के पास एक प्राचीन और प्रसिद्ध

विश्वविद्यालय तक्षशिला या तक्षिला था। यह विश्वविद्यालय विशेष रूप से विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र और कलाओं के लिए मशहूर था, और भारत के दूर-दूर के हिस्सों से लोग यहाँ आया करते थे।

तक्षशिला का स्नातक होना सम्मान और विशेष योग्यता की बात समझी जाती थी। जो चिकित्सक यहाँ के आयुर्विज्ञान विद्यालय से पढ़कर निकलते थे, उनकी बड़ी कद्र होती थी। कहा जाता है कि जब कभी बुद्ध बीमार पड़ते थे तो उनके भक्त इलाज के लिए एक मशहूर चिकित्सक को बुलाते थे, जो तक्षशिला का स्नातक था। ईसा पूर्व छठी सातवीं शताब्दी के महान वैयाकरण पाणिनि ने भी यहीं शिक्षा पाई थी।

इस तरह तक्षशिला बुद्ध से पहले ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति का विश्वविद्यालय था। बौद्ध-काल में यह बौद्ध-ज्ञान का भी केन्द्र बन गया था। सारे भारत और सीमा-पार से बौद्ध विद्यार्थी यहाँ खिंचे चले आते थे। यह मौर्य साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी सूबे का मुख्यालय था।

उस सुदूर अतीत के भारतीय कैसे थे? हमारे लिए इतने पुराने और हमसे इतने भिन्न समय के बारे में कोई धारणा बनाना कठिन है। फिर भी हमें जो विविध जानकारियाँ उपलब्ध हैं उसके आधार पर एक धुँधली-सी तस्वीर उभर कर सामने आती है। वे खुले दिल के, आत्मविश्वासी और अपनी परंपराओं पर गर्व करने वाले लोग थे। रहस्य की खोज में हाथ-पाँव मारने वाले, प्रकृति और मानव जीवन के बारे में बहुत से प्रश्नों से भरे, अपनी बनाई हुई मर्यादा और मूल्यों को महत्त्व देने वाले, पर जीवन में सहज भाव से आनंद लेने वाले, और मौत का लापरवाही से सामना करने वाले लोग थे।

महावीर और बुद्ध : वर्ण व्यवस्था

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों वैदिक धर्म से कटकर अलग हुए थे और

उसकी उपशाखाएँ थे। गरचे एक माने में वे उसी से निकले थे। उन्होंने वेदों को प्रमाण नहीं माना। तमाम और बातों में सबसे बुनियादी बात यह है कि आदि कारण के बारे में वे या तो मौन हैं या उसके अस्तित्व से इन्कार करते हैं। दोनों अहिंसा पर बल देते हैं और ब्रह्मचारी भिक्षुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनके नज़रिए एक हद तक यथार्थवादी और बुद्धिवादी हैं। गोकि जब हमें अदृश्य दुनिया पर विचार करना होता है तो यह नज़रिया लाज़िमी तौर पर हमारे बहुत दूर तक काम नहीं आता। जैन-धर्म का एक बुनियादी सिद्धांत यह है कि सत्य हमारे दृष्टिकोण की सापेक्षता में होता है। यह कठोर, नीतिवादी और गैर-लोकोत्तरवादी विचार-पद्धति है। इसमें जीवन और विचार में तपस्या के पहलू पर बल दिया गया है।

जैन-धर्म के संस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे और दोनों शूरवीर क्षत्रिय जाति के थे। बुद्ध की मृत्यु ई.पू. 544 में अस्सी वर्ष की आयु में हुई और तभी बौद्ध संवत् शुरू हुआ (यह तिथि परंपरा के अनुसार है)। इतिहासकारों ने बाद की तारीख यानी ई.पू. 487 दी। पर अब उनका झुकाव भी परंपरागत तिथि को मानने की ओर है। यह अजीब संयोग है कि मैं ये पंक्तियाँ बौद्ध संवत् 2488 की पहली तारीख को वैशाखी पूर्णिमा के दिन लिख रहा हूँ। बौद्ध साहित्य में लिखा है कि बुद्ध का जन्म वैशाख (मई-जून) के महीने में इसी पूर्णिमा के दिन हुआ था, इसी तिथि को उन्हें बोध प्राप्त हुआ था और अंत में उनका निर्वाण भी, इसी तिथि को हुआ था।

बुद्ध में लोक-प्रचलित धर्म, अंधविश्वास, कर्म-कांड और पुरोहित-प्रपंच और उनके साथ जुड़े हुए निहित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आध्यात्मिक, धर्म वैज्ञानिक नज़रिये की, तथा चमत्कारों, इलहामों, अलौकिक व्यापारों आदि की भी निंदा की। उनका आग्रह तर्क, विवेक और अनुभव पर था, उनका बल नैतिकता पर था, उनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की थी, ऐसा मनोविज्ञान

जिसमें आत्मा के लिए जगह नहीं थी। उनका पूरा नज़रिया आध्यात्मिक अटकलबाजी की बासी हवा के बाद पहाड़ों से आने वाले ताज़ी हवा के झोंके की तरह लगता है।

बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था पर सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपनी संघ-व्यवस्था में उन्होंने इसे कोई स्थान नहीं दिया। इस बात में संदेह नहीं कि उनके पूरे रुख और क्रियाकलाप से वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुँचा।

यह विचित्र और महत्त्वपूर्ण बात है कि भारतीय इतिहास के लंबे दौर में पुरोहित-प्रपंच और वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के विरुद्ध बड़े लोगों ने बार-बार चेतावनी दी है, फिर भी धीरे-धीरे मानों भाग्य के अदृश्य किन्तु अनिवार्य चक्र की तरह, वर्ण-व्यवस्था का विकास और विस्तार हुआ है। इसने भारतीय जीवन के हर पहलू को अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। जात के विरोधियों के बहुत से अनुयायी हुए, पर समय के साथ उनके समुदाय की अपनी एक अलग जात बन गई। जैन-धर्म, जो अपने मूल धर्म के विरोध में खड़ा हुआ था अनेक रूपों में उससे बिल्कुल अलग था, जात के प्रति सहिष्णु था और खुद उसने अपने को उसके अनुरूप बना लिया था। इसलिए आज भी यह ज़िंदा है और जारी है तो लगभग हिंदू-धर्म की एक शाखा के रूप में। बौद्ध धर्म ने जाति-व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। यह अपने विचारों और दृष्टिकोण में ज़्यादा स्वतंत्र रहा। अंततः वह भारत से बाहर निकल गया, गोकि भारत और हिन्दूवाद पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

बुद्ध की शिक्षा

बहस-मुबाहसों से भारत को हमेशा बहुत अनुराग रहा है किंतु इनसे कहीं बढ़कर लोगों पर एक बहुत बड़े और क्रांतिमान व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा और उसकी स्मृति उनके मन पर ताज़ा थी। उसका संदेश पुराना होते हुए भी उनके

लिए बहुत नया और मौलिक था जो ब्रह्मज्ञान की गुत्थियों में डूबे रहते हैं। इस व्यक्ति ने बुद्धिजीवियों की कल्पना पर अधिकार कर लिया। वह लोगों के हृदय में गहरे पैठ गया। बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा "सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो"। उनसे जाकर कहो कि निर्धन और दीन, धनी और कुलीन सब एक हैं। इस धर्म में सब जातियाँ आकर इस तरह मिल जाती हैं जैसे समुद्र में नदियाँ उन्होंने सबके लिए करुणा का, प्रेम का संदेश दिया। क्योंकि "इस संसार में घृणा का अंत घृणा से नहीं होता, घृणा का अंत प्रेम से होता है" अतः "मनुष्य को क्रोध पर दया से, और बुराई पर भलाई से काबू पाना चाहिए।"

यह सदाचार और आत्मानुशासन का आदर्श था। "युद्ध में भले ही कोई हज़ार आदमियों पर विजय पा ले, पर जो अपने पर विजय पाता है, सच्चा विजेता वही होता है। मनुष्य जन्म से नहीं बल्कि केवल कर्म से नीच जाति का या ब्राह्मण होता है।"

उन्होंने यह उपदेश न किसी धर्म के समर्थन के आधार पर और न ईश्वर या परलोक का हवाला देकर दिया। उन्होंने विवेक, तर्क और अनुभव का सहारा लिया और लोगों से कहा कि वे अपने मन के भीतर सत्य की खोज करें। कहा जाता है कि उन्होंने कहा--"किसी को मेरे बताए हुए नियम को मेरे प्रति श्रद्धा के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि पहले उसकी परख उसी तरह करनी चाहिए जैसे सोने को आग में तपा कर देखा जाता है।" सत्य की जानकारी का अभाव सब दुखों का कारण है। ईश्वर या परब्रह्म का अस्तित्व है या नहीं, उन्होंने नहीं बताया। वे न उसे स्वीकार करते हैं न इनकार। ज़हाँ जानकारी संभव नहीं है वहाँ हमें निर्णय नहीं देना चाहिए। कहा जाता है कि एक प्रश्न का उत्तर देते हुए बुद्ध ने कहा--"यदि परब्रह्म से मतलब किसी ऐसी सत्ता से है जिसका सभी ज्ञात वस्तुओं से कोई संबंध नहीं है, तब किसी ज्ञात तर्क से उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरी चीज़ों से असंबद्ध किसी

चीज़ का अस्तित्व है भी या नहीं? यह हम कैसे जान सकते हैं? यह पूरा ब्रह्माण्ड, जिस रूप में हम इसे जानते हैं, संबंधों की एक व्यवस्था है—हम किसी ऐसी चीज़ को नहीं जानते जो बिना संबंधों के है या हो सकती है।" इसलिए हमें अपने आपको उन्हीं चीज़ों तक सीमित रखना चाहिए जिन्हें हम देख सकते हैं और जिनके बारे में हम निश्चित जानकारी हासिल कर सकते हैं।

बुद्ध की पद्धति मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति थी और इस बात की जानकारी हैरत में डालने वाली है कि अधुनातन विज्ञानों के बारे में उनकी अंतर्दृष्टि कितनी गहरी थी।

जीवन में वेदना और दुख पर बौद्ध धर्म में बहुत बल दिया गया है। बुद्ध ने जिन "चार आर्य सत्यों" का निरूपण किया है उनका संबंध दुख का कारण, दुख के अंत की संभावना, और उसे समाप्त करने के उपाय से है।

दुख की इस स्थिति के अंत से "निर्वाण" की प्राप्ति होती है। बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग था। यह अतिशय भोग और अतिशय तप के बीच का रास्ता है। अपने शरीर को कष्ट देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा, जो व्यक्ति अपनी शक्ति खो देता है वह सही रास्ते पर नहीं बढ़ सकता। यह मध्यम मार्ग आर्यों का अष्टांग मार्ग था। सही विश्वास, सही आकांक्षाएँ, सही वचन, सही आचरण, जीवनयापन का सही ढंग, सही प्रयास, सही विचार, और सही आनंद।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को वही बातें बताईं जो उनके विचार से वे लोग समझ सकते थे और उनके अनुसार आचरण कर सकते थे। उनका शिक्षा से मतलब यह नहीं था कि हर बात की पूरी-पूरी व्याख्या की जाए, जो कुछ भी है उसका पूरी तरह उद्घाटन किया जाए। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ में कुछ सूखी पत्तियाँ लेकर अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि उनके हाथ में जो पत्तियाँ हैं, उनके अलावा भी कहीं कोई हैं या नहीं? आनंद ने उत्तर दिया—पतझड़ की पत्तियाँ सब तरफ गिर रही हैं, और वे इतनी हैं कि

उनकी गणना नहीं की जा सकती।" तब बुद्ध ने कहा—"इसी तरह मैंने तुम्हें मुट्ठी भर सत्य दिया है, किन्तु इसके अलावा कई हज़ार और सत्य ऐसे हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।"

बुद्ध-कथा

"बुद्ध" की वह संकल्पना जिसे प्यार से भरे अनगिनत हाथों ने पत्थर संगमरमर और कांसे में ढालकर आकार दिया, भारतीयों के विचारों की समग्र आत्मा की, या कम-से-कम उसके एक तेजस्वी पक्ष की प्रतीक है। कमल के फूल पर बैठे हुए—शांत और धीर, वासनाओं और लालसाओं से परे, इस संसार के तूफानों और संघर्षों से दूर वे इतनी दूर, पहुँच से इतने परे मालूम होते हैं जैसे उन्हें पाना असंभव हो। लेकिन हम जब उन्हें दुबारा देखते हैं तो उस शांत, अडिग आकृति के पीछे हमें एक ऐसा आवेग और ऐसा मनोभाव दिखाई पड़ता है जो अद्भुत है और उन तमाम आवेगों और मनोभावों से अधिक प्रबल है, जिनसे हम परिचित हैं। उनकी आँखें मुँदी हुई हैं, किन्तु कोई चेतना शक्ति उनमें से झाँकती दिखाई पड़ती है। उनकी आकृति जीवनी-शक्ति से भरी जान पड़ती है। युग पर युग बीतते जाते हैं पर बुद्ध हमसे बहुत दूर नहीं मालूम होते। उनकी वाणी हमारे कान में धीमे स्वर से कहती है कि हमें संघर्ष से भागना नहीं चाहिए बल्कि शांत-दृष्टि से उनका मुकाबला करना चाहिए और जीवन में विकास और प्रगति के और बड़े अवसरों को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है, और जिस व्यक्ति ने मानव-जाति के विचारों पर बुद्ध की तरह अपनी छाप डाली हो, जिसके बारे में सोचते हुए आज भी हम एक जीती-जागती, थरथराहट पैदा करने वाली अनुभूति से गुज़रते हैं; वह आदमी बड़ा ही अद्भुत रहा होगा—ऐसा आदमी जो बार्थ के शब्दों में "शांत और मधुर ऐश्वर्य की सभी जीवों के लिए अपार

सहानुभूति और पीड़ितों के लिए असीम करुणा की, पूरी नैतिक स्वतंत्रता की और हर तरह के पूर्वाग्रह से मुक्ति की परिष्कृत मूर्ति था।" उस राष्ट्र और जाति के पास निश्चय ही समझदारी और आंतरिक शक्ति की गहरी संचित निधि होगी जो ऐसे भव्य आदर्श को जन्म दे सकती है।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य : मौर्य साम्राज्य की स्थापना

भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार धीरे-धीरे हुआ। गरचे मूल रूप में यह क्षत्रिय आंदोलन था और शासक वर्ग तथा पुरोहितों के बीच संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता था। इसके नैतिक और जनतांत्रिक पक्ष – विशेषकर पुरोहिती-प्रपंच, और कर्मकांड के विरुद्ध संघर्ष का लोगों पर प्रभाव पड़ा।

पश्चिमोत्तर प्रदेश पर सिकंदर के आक्रमण से इस विकास को आगे बढ़ाने में विशेष मदद मिली, और दो ऐसे विलक्षण व्यक्ति सामने आए जिन्होंने बदलती हुई परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए उन्हें अपनी मर्ज़ी के मुताबिक ढाल लिया। ये लोग थे चन्द्रगुप्त मौर्य और उनके ब्राह्मण मित्र, मंत्री और सलाहकार चाणक्य। इन दोनों का मेल बहुत कारगर साबित हुआ। दोनों मगध के उस शक्तिशाली नंद साम्राज्य से निकाल दिए गए थे जिसकी राजधानी पाटलीपुत्र (आधुनिक पटना) थी। दोनों पश्चिमोत्तर प्रदेश में तक्षशिला गए और उन यूनानियों के संपर्क में आए जिन्हें सिकंदर ने वहाँ नियुक्त किया था। चंद्रगुप्त की भेंट खुद सिकंदर से हुई थी, उसने उनकी विजयों और महिमा के किस्से सुने थे और उसके मन में सिकंदर की बराबरी करने की आकांक्षा बलवती हुई थी।

चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना पर चिर नवीन नारा बुलंद करके विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध लोगों को उत्तेजित किया। यूनानी सेना को खदेड़ कर तक्षशिला पर अधिकार कर लिया गया। राष्ट्रीयता की पुकार सुनकर बहुत से लोग चंद्रगुप्त के साथ हो गए और उन्हें साथ लेकर उत्तर भारत को

पार करके चंद्रगुप्त पटना तक पहुँच गया। सिकंदर की मृत्यु के दो ही वर्ष में उसने पाटलीपुत्र पर अधिकार कर के मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। लिखित इतिहास में पहली बार एक विराट केंद्रीय राज्य की स्थापना हुई। पाटलीपुत्र इस महान साम्राज्य की राजधानी थी।

यह नया राज्य था कैसा? सौभाग्य से हमें इसका पूरा ब्यौरा मिलता है—भारतीय भी और यूनानी भी। एक विवरण सिल्यूकस के राजदूत मेगेस्थनीज़ ने छोड़ा है और दूसरा है कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" जो कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण "राजनीतिशास्त्र" है और उसी समय की रचना है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है। इस तरह यह ग्रंथ केवल एक महान विद्वान की ही रचना नहीं है बल्कि एक ऐसे व्यक्ति की रचना है जिसने उस साम्राज्य की स्थापना, विकास और सुरक्षा में प्रमुख भाग लिया था। चाणक्य को भारत का मैकियावेली कहा गया है। यह तुलना एक सीमा तक उचित भी है। पर वह हर दृष्टि से कहीं अधिक बड़ा आदमी था —बुद्धिमानी में भी और कर्मठता में भी। वह राजा का मात्र अनुयायी — एक सर्वशक्तिमान सम्राट का विनम्र सलाहकार भर नहीं था। इस युग के बारे में एक प्राचीन भारतीय नाटक है—"मुद्राराक्षस"। इस नाटक में चाणक्य की तस्वीर उभरती है। साहसी और षड़यंत्री, अभिमानी और प्रतिशोधी, जो न कभी अपमान को भूलता है न अपने लक्ष्य को ओझल होने देता है, दुश्मन को धोखा देने और पराजित करने के लिए वह हर तरीके का इस्तेमाल करता है। वह साम्राज्य की बागडोर हाथ में सँभाले रहता है और सम्राट को स्वामी की तरह नहीं बल्कि एक प्रिय शिष्य की तरह देखता है। अपने जीवन में वह सादा और तपस्वी है, ऊँचे पदों की शान-शौकत में उसकी दिलचस्पी नहीं है। जब वह अपनी शपथ पूरी कर लेता है और अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है, तो सच्चे ब्राह्मण की तरह सेवानिवृत्त होकर चिंतन-मनन का जीवन बिताना चाहता है।

अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए शायद ही कोई ऐसी बात रही हो जिसे करने में चाणक्य को किसी प्रकार का संकोच होता। वह काफ़ी अमर्यादित था, पर साथ ही उसमें बुद्धिमानी थी और वह यह समझता था कि ग़लत साधनों के उपयोग से लक्ष्य अधूरा रह सकता है। अपने लक्ष्य को पूरा करने के मामले में चाणक्य कड़ा भी था और मर्यादाहीन भी, पर वह यह कभी नहीं भूलता था कि बुद्धिमान और ऊँची सूझ-बूझ वाले दुश्मन को कुचलने की बजाय अपने पक्ष में मिला लेना बेहतर होता है। उसने शत्रु के खेमे में फूट के बीज बोकर अपनी अंतिम विजय हासिल की। कहा जाता है कि विजय की इसी घड़ी में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को अपने प्रमुख बैरी के प्रति उदारता बरतने के लिए प्रेरित किया। ऐसा भी कहा जाता है कि चाणक्य ने खुद अपने ऊँचे ओहदे की मोहर को उस विरोधी के ऐसे मंत्री को सौंप दिया, जिसकी बुद्धिमानी और अपने पुराने मालिक के प्रति वफ़ादारी ने चाणक्य को बहुत अधिक प्रभावित किया था। इस तरह इस कहानी का अंत पराजय की कड़वाहट और अपमान में नहीं होता बल्कि समझौते के साथ ऐसे राज्य की मज़बूत और टिकाऊ नींव डालने से होता है जिसने अपने प्रमुख दुश्मन को पराजित ही नहीं किया बल्कि उसका दिल जीतकर अपने साथ मिला लिया।

चाणक्य के अर्थशास्त्र में व्यापक स्तर पर अनेकानेक विषयों पर लिखा गया है। उसमें शासन के सिद्धांत और व्यवहार के लगभग सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। उसमें राजा, उसके मंत्रियों और सलाहकारों के कर्तव्यों, राजसभा की बैठकों, सरकारी महकमों, कूटनीति, युद्ध और शांति सब की चर्चा की गई है।

इसमें चंद्रगुप्त की विराट सेना का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसमें पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथी सभी शामिल हैं। फिर भी चाणक्य का कहना है कि केवल संख्या से कुछ नहीं होता, अनुशासन और उचित नेतृत्व के अभाव

में वे बोझ बन जाते हैं। इसमें रक्षा और किलेबंदी के बारे में भी बताया गया है।

पुस्तक में चर्चित अन्य विषयों में व्यापार और वाणिज्य, कानून और न्यायालय, नगर-व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज़, विवाह और तलाक, स्त्रियों के अधिकार, कर और लगान, कृषि, खानों और कारखानों को चलाना, दस्तकारी, मंडियाँ, बागवानी, उद्योग-धंधे, सिंचाई और जल-मार्ग, जहाज़ और जहाज़रानी, निगमें, जन-गणना, मत्स्य-उद्योग, कसाई खाने, पासपोर्ट और जेल–सब शामिल हैं। विधवा विवाह को मान्यता दी गई और विशेष परिस्थितियों में तलाक को भी।

अपने राज्याभिषेक के समय राजा को इस बात की शपथ लेनी पड़ती थी कि वह प्रजा की सेवा करेगा–"यदि मैं तुम्हें सताऊँ तो स्वयं स्वर्ग, जीवन और संतान से वंचित हो जाऊँ।" उसका सुख उसकी प्रजा के सुख में है, उसकी खुशहाली में है, वह उसी को अच्छा समझेगा जो उसकी प्रजा को अच्छा लगेगा, उसे नहीं जो खुद को अच्छा लगे। "यदि राजा उत्साही होगा, तो प्रजा समान रूप से उत्साही होगी।" सार्वजनिक काम राजा की मर्ज़ी के मोहताज नहीं होते, उसे खुद हमेशा इनके लिए तैयार रहना चाहिए। यदि कोई राजा अनीति करता है तो उसकी प्रजा को अधिकार है कि उसे हटाकर किसी दूसरे को उसकी जगह बैठा दे।

अशोक

273 ई.पू. में अशोक इस महान साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इससे पहले वह पश्चिमोत्तर प्रदेश का शासक रह चुका था, जिसकी राजधानी, विश्वविद्यालय की नगरी तक्षशिला थी। उस समय साम्राज्य के भीतर भारत का बहुत बड़ा भाग आ गया था और उसका विस्तार मध्य एशिया तक हो चुका था। केवल दक्षिण पूर्व और दक्षिण का एक भाग उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं आ पाए थे। संपूर्ण

भारत को एक शासन व्यवस्था के मातहत इकट्ठा करने के पुराने सपने ने अशोक को प्रेरित किया और उसने तत्काल पूरबी तट के कलिंग प्रदेश को जीतने की ठान ली। यह प्रदेश मोटे तौर से आधुनिक उड़ीसा और आंध्र प्रदेश के एक हिस्से को मिलाकर बनता है। कलिंग के लोगों के बहादुरी से मुकाबला करने के बावजूद अशोक की सेना जीत गई। इस युद्ध में भयंकर कत्ले-आम हुआ। जब इस बात की ख़बर अशोक को मिली तो उसे बहुत पछतावा हुआ और युद्ध से विरक्ति हो गई। इतिहास में होने वाले विजयी सम्राटों और नेताओं में वह अकेला है जिसने पूरी तरह विजयी होकर भी आगे युद्ध न करने का निर्णय किया। सुदूर दक्खिन के एक टुकड़े के अलावा पूरे भारत ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। उसके चाहने भर से यह टुकड़ा भी उसके अधिकार में आ जाता, लेकिन उसने और आक्रमण नहीं किया। बुद्ध की शिक्षा के प्रभाव से उसका मन दूसरे क्षेत्रों में विजय हासिल करने और साहसिक काम करने की ओर घूम गया।

अशोक के विचारों और कर्मों के बारे में हमें उसी के शब्दों में उन तमाम फ़रमानों से जानकारी मिलती है जो उसने जारी किए ओर जो पत्थर और धातु पर खोदे गए। ये फरमान पूरे भारत में फैले हैं, और अब भी मिलते हैं। इनके ज़रिए उसने अपनी प्रजा को ही नहीं, बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी अपना संदेश दिया। ऐसे एक फ़रमान में कहा गया है।

"परम पुण्यात्मा महामहिम सम्राट ने कलिंग पर उस समय विजय प्राप्त की जब उसके अभिषेक को आठ वर्ष हुए थे। वहाँ से डेढ़ लाख लोग कैद करके लाए गए, एक लाख लोग वहाँ मौत के घाट उतार दिए गए और इस संख्या से कई गुना और लोग वहाँ मरे।"

कलिंग के साम्राज्य में मिलाए जाने के ठीक बाद ही महामहिम सम्राट ने धर्म के नियमों का उत्साहपूर्वक पालन, उन नियमों के प्रति प्रेम और उसको (धर्म को) अंगीकार करना आरंभ कर दिया। इस तरह पुण्यात्मा सम्राट के मन

में कलिंग विजय के प्रति पश्चाताप का भाव उदित हुआ, क्योंकि किसी स्वाधीन देश पर विजय पाने का अर्थ होता है खून-खराबा, मौत और लोगों को बंदी बनाकर ले जाना। यह महामहिम सम्राट के लिए गहरे शोक और पश्चाताप की बात है।"

इस फ़रमान में आगे कहा गया है कि अशोक अब आगे किसी प्रकार की हत्या या बंदी बनाए जाने को सहन नहीं करेगा। कलिंग में मरने और बंदी बनाए जाने वाले लोगों के सौवें हज़ारवें हिस्से को भी नहीं। सच्ची विजय कर्तव्य और धर्म पालन करके लोगों के हृदय को जीतने में है। अशोक ने आगे लिखा है कि ऐसी सच्ची विजय उसने पहले ही पा ली है, न केवल अपने राज्यों में बल्कि दूर देशों में भी।

फ़रमान में आगे कहा गया है :

"इसके अलावा, यदि कोई उनके साथ बुराई करेगा तो उसे भी जहाँ तक संभव होगा महामहिम सम्राट को झेलना होगा। अपने राज्य के वन निवासियों पर भी महामहिम सम्राट की कृपादृष्टि है और उनका प्रयास होगा कि वे सही ढंग से विचार करने वाले बनें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकेंगे तो इससे महामहिम सम्राट को पश्चाताप होगा। महामहिम सम्राट की यह आकांक्षा है कि जीव-मात्र की रक्षा हो, उनमें आत्म-संयम हो, उन्हें मन की शांति और आनंद प्राप्त हो।"

इस अद्‌भुत शासक ने, जिसे आज भी भारत और एशिया के बहुत से दूसरे भागों में प्यार से याद किया जाता है, अपने आपको बुद्ध की शिक्षा के प्रचार में, नेकी और सद्‌भाव के काम में और प्रजा के हित के लिए सार्वजनिक कार्यों के प्रति समर्पित कर दिया। वह चिंतन और आत्मोन्नति के प्रयास में डूबा हुआ घटनाओं का निष्क्रिय दर्शक नहीं था। वह प्रजा से संबद्ध कामों के लिए मेहनत करने वाला व्यक्ति था और उसने एलान कर दिया था कि वह इनके लिए हमेशा तैयार है—"हर स्थान पर और हर समय, चाहे मैं भोजन कर रहा

हूँ, चाहे रनिवास में रहूँ, चाहे मैं अपने शयनागार में रहूँ या स्नानागार में, मैं सवारी पर रहूँ या अपने महलों के उपवन में, सरकारी कर्मचारी जनता के कार्यों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें—चाहे जिस समय और जहाँ भी हो मैं लोक-हित के लिए अवश्य काम करूँगा।"

खुद कट्टर बौद्ध होने पर भी उसने दूसरे धर्मों को बराबर आदर और महत्त्व दिया। एक फरमान में उसने यह घोषणा की—

"सभी मत किसी न किसी कारण से श्रद्धा के अधिकारी हैं। ऐसा व्यवहार करके व्यक्ति अपने मन की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है और साथ ही दूसरों के मतों की सेवा करता है।"

अशोक बहुत बड़ा निर्माता भी था। ऐसा कहा गया है कि उसने अपनी कुछ बड़ी इमारतों को बनाने में मदद के लिए विदेशी कारीगरों को रख छोड़ा था। यह नतीजा एक जगह इकट्ठे बने स्तंभों के डिजाइन से निकाला गया है जो पर्सिपोलिस की याद दिलाते हैं। लेकिन इस शुरू की मूर्तिकला और दूसरे अवशेषों में भी भारतीय कला परंपरा की विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं।

इकतालीस साल तक अनवरत शासन करने के बाद ई.पू. 232 में अशोक की मृत्यु हो गई। एच.जी. वेल्स ने अपनी "आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री" में उसके बारे में लिखा है। बादशाहों के दसियों हज़ार नामों में जिनसे इतिहास के पृष्ठ भरे हैं, जिनमें बड़े-बड़े राजे-महाराजे, शहंशाह और नामी गिरामी शासक शामिल हैं, अशोक का नाम अकेला सितारे की तरह चमक रहा है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसका नाम आदर से लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत तक में, जहाँ गरचे उसके सिद्धांत को त्याग दिया गया है, उसकी महानता की परंपरा को कायम रखा गया है। जितने लोगों ने कभी कान्सटेंटाइन और शार्ल के नाम भी सुने होंगे उनसे कहीं-बड़ी संख्या में आज जिंदा लोग उसकी स्मृति को बनाए हुए हैं।

अध्याय 4

युगों का दौर

गुप्त-शासन में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद

मौर्य साम्राज्य का अवसान हुआ और उसकी जगह शुंग वंश ने ले ली जिसका शासन अपेक्षाकृत बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्षिण में बड़े राज्य उभर रहे थे और उत्तर में काबुल से पंजाब तक बाख़्त्री, या भारतीय यूनानी फैल गए थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया किन्तु उनकी हार हुई और उन्हें खदेड़ दिया गया। खुद मेनांडर पर भारतीय चेतना और वातावरण का प्रभाव पड़ा और वह बौद्ध हो गया। वह राजा मिलिंद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बौद्ध आख्यानों में उसकी लोक-प्रसिद्धि लगभग एक संत के रूप में हुई। भारतीय और यूनानी संस्कृतियों के मेल से अफ़गानिस्तान और सरहदी सूबे के क्षेत्र में गांधार की यूनानी-बौद्ध कला का जन्म हुआ।

भारत के मध्यप्रदेश में सांची के निकट बेसनगर में ग्रेनाइट पत्थर की एक लाट है जो हेलिओदोरो स्तंभ के नाम से प्रसिद्ध है। इसका समय ई.पू. पहली शताब्दी है और इस पर संस्कृत का एक लेख खुदा है। इससे हमें उन यूनानियों के भारतीयकरण की झलक मिलती है जो सरहद पर आए थे और भारतीय संस्कृति को जज़्ब कर रहे थे। इस लेख का अनुवाद इस तरह किया गया है—

"देवताओं के देव वासुदेव (विष्णु) के इस गरुड़-स्तंभ का निर्माण दियां के बेटे तक्षशिला निवासी हेलिओदोर ने किया। हेलिओदोर यूनान के महान शासक

एंटिआसिदास के राजदूत के रूप में यहाँ के परम रक्षक भागभद्र के राजा काशिपुत्र के यहाँ उनके राज्य काल के चौदहवें वर्ष में आया था।"

"तीन शाश्वत सिद्धांत जिनके भली-भाँति पालन से स्वर्ग मिलता है- आत्म-संयम, आत्म-त्याग (दान), और सत्यनिष्ठा हैं।"

मध्य-एशिया में शक या सीदियन (सीस्तान=शकस्थान) लोग ऑक्सस (अक्षु) नदी की घाटी में बस गए थे। यूइ-ची सुदूर पूरब से आए और उन्होंने इन लोगों को उत्तर-भारत की ओर धकेल दिया। ये शोक बौद्ध और हिंदू हो गए। यूइ-चियों में से एक दल कुषाणों का था। उन्होंने सब पर अधिकार करके उत्तर भारत तक अपना विस्तार कर लिया उन्होंने शकों को पराजित करके उन्हें दक्षिण की ओर खदेड़ा। ये शक काठियावाड़ और दक्खिन की ओर चले गए। इसके बाद कुषाणों ने पूरे उत्तर-भारत पर और मध्य-एशिया के बहुत बड़े भाग पर अपना व्यापक और मज़बूत साम्राज्य कायम किया। उनमें से कुछ ने हिंदू-धर्म को अपना लिया लेकिन अधिकांश लोग बौद्ध हो गए। उनका सबसे प्रसिद्ध शासक कनिष्क बौद्ध कथाओं का भी नायक है, जिनमें उसके महान कारनामों और सार्वजनिक कामों का जिक्र किया गया है। उसके बौद्ध होने के बावजूद ऐसा लगता है कि राज्य-धर्म का स्वरूप कुछ मिला-जुला था जिसमें ज़रथुष्ट्र के धर्म का भी योगदान था। यह सरहदी सूबा, जो कुषाण साम्राज्य कहलाया, जिसकी राजधानी आधुनिक पेशावर के निकट थी, और तक्षशिला का पुराना विश्वविद्यालय भी जिसके निकट था, बहुत से राष्ट्रों से आने वाले लोगों के मिलने का स्थान बन गया। यहाँ भारतीयों की मुलाकात सीदियनों, युइ-चियों, ईरानियों बाख़्त्री-यूनानियों, तुर्कों और चीनियों से होती थी। ये विभिन्न संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती थीं। इनके आपसी प्रभावों के परिणामस्वरूप मूर्तिकला और चित्रकला की एक सशक्त शैली ने जन्म लिया। इतिहास की दृष्टि से, इसी जमाने में चीन और भारत के बीच पहले संपर्क हुए, और 64 ई. में यहाँ चीनी राजदूत आए। उस समय चीन

से भारत को जो बहुत पसंद आने वाले तोहफे मिले उनमें आड़ू और नाशपाती के पेड़ थे। गोबी रेगिस्तान के ठीक किनारे-किनारे, तूर्फान और कूचा में भारतीय, चीनी और ईरानी संस्कृतियों का अद्‌भुत मेल हुआ।

कुषाण काल में बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में बँट गया—महायान और हीनयान। उन दोनों के बीच मतभेद उठ खड़े हुए। भारतीय परंपरा के अनुसार बड़ी-बड़ी सभाओं में इन समस्याओं पर विवाद आयोजित किए जाने लगे। इन बहसों में सारे देश के प्रतिनिधि भाग लेते थे। कश्मीर इस साम्राज्य के केंद्र के निकट था और उसमें भरपूर विवाद और सांस्कृतिक कार्यक्रम होते थे। इन विवादों में एक नाम सबसे अलग और विशिष्ट दिखाई पड़ता है। यह नाम नागार्जुन का है जो ईसा की पहली शताब्दी में हुए। उनका व्यक्तित्व महान था। वे बौद्ध शास्त्रों और भारतीय दर्शन दोनों के बहुत बड़े विद्वान थे। उन्हीं के कारण भारत में महायान की विजय हुई। महायान के ही सिद्धांतों का प्रचार चीन में हुआ; लंका और बर्मा (वर्तमान श्रीलंका और म्यांमार) हीनयान को मानते रहे।

कुषाणों ने अपना भारतीयकरण कर लिया था और वे भारतीय संस्कृति के संरक्षक हो गए थे; फिर भी राष्ट्रीय विरोध की एक अंतर्धारा उनके शासन के ख़िलाफ बराबर चल रही थी। बाद में जब भारत में नई जातियों का आगमन हुआ, तो ईसा की चौथी शताब्दी के आरंभ में विदेशियों का विरोध करने वाले इस राष्ट्रीय आंदोलन ने निश्चित रूप ग्रहण कर लिया। एक दूसरे महान शासक ने, जिसका नाम भी चंद्रगुप्त था, नए हमलावरों को मार भगाया और एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य कायम किया।

इस तरह ई. 320 में गुप्त-साम्राज्य का युग आरंभ हुआ। इस साम्राज्य में एक के बाद एक कई महान शासक हुए, जो युद्ध और शांति, दोनों कलाओं में सफल हुए। लगातार हमलों ने विदेशियों के प्रति प्रबल विरोधी भावना को जन्म दिया और देश के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय तत्त्वों को अपनी मातृभूमि और संस्कृति

दोनों की रक्षा के बारे में सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा। जो विदेशी तत्व यहाँ घुलमिल गए थे, उन्हें स्वीकार कर लिया गया, लेकिन हर नए आने वाले को प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा और पुराने ब्राह्मण आदर्शों के आधार पर सजातीय राज्य कायम करने का प्रयास किया गया। लेकिन अब पुराना आत्मविश्वास समाप्त हो रहा था और इन आदर्शों में ऐसी कट्टरता विकसित होने लगी थी जो इनके स्वभाव के विपरीत थी। शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से भारत एक खोल के भीतर सिमटता दिखाई पड़ रहा था।

लेकिन यह खोल काफी गहरा और चौड़ा था। आरंभ में, जिस ज़माने में आर्य यहाँ उस स्थान पर आए जिसे उन्होंने आर्यावर्त या भारतवर्ष कहा था तब भारतवर्ष के सामने समस्या यह थी कि इस नई जाति और संस्कृति और इस देश की पुरानी जाति और संस्कृति के बीच समन्वय कैसे कायम किया जाए। भारत ने अपना ध्यान इस समस्या को हल करने में लगाया और उसने मिली-जुली भारतीय आर्य संस्कृति की मज़बूत बुनियाद पर निर्मित एक स्थायी हल प्रस्तुत किया। दूसरे विदेशी तत्त्व यहाँ आए और जज़्ब होते गए। उनसे कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ा। गरचे व्यापार और अन्य कारणों से भी दूसरे देशों से भारत का अनेक रूपों में संपर्क हुआ, लेकिन वह अपने मामलों में ही डूबा रहा। बाहर क्या हो रहा है, इस पर उसने कम ध्यान दिया। लेकिन अब समय-समय पर अजीब रस्मों-रिवाज वाले अजनबी लोगों के हमलों ने उसे हिला दिया। वह अब इन हमलों को अनदेखा नहीं कर सकता था क्योंकि इन्होंने केवल उसके राजनीतिक ढाँचे को ही नहीं तोड़ा बल्कि उसके सांस्कृतिक आदर्शों और सामाजिक ढाँचे के लिए भी ख़तरा पैदा कर दिया। इनके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसका रूप मूलतः राष्ट्रवादी था। उसमें राष्ट्रवाद की शक्ति भी थी और संकीर्णता भी। धर्म और दर्शन, इतिहास और परंपरा, रीति-रिवाज और सामाजिक ढाँचा, जिसके व्यापक घेरे में उस समय के भारत के जीवन के सभी पहलू आते थे, जिसे ब्राह्मणवाद या (जिसे बाद में

व्यवहार में आने वाले शब्द द्वारा) हिन्दूवाद कहा जा सकता है, इस राष्ट्रवाद का प्रतीक बना। यह दरअसल राष्ट्रीय धर्म था, जिससे वे तमाम गहरी जातीय और सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ प्रभावित हुईं जो आज हर जगह राष्ट्रीयता की बुनियाद में मौजूद हैं। जिस बौद्ध-धर्म का जन्म भारतीय विचार से हुआ था, उसकी अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि भी थी। उसके लिए भारत वह पुण्य भूमि थी जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया, उपदेश दिया और वहीं उनका निर्वाण हुआ। जहाँ के प्रसिद्ध विद्वानों और संतों ने इस मत का प्रचार किया था। पर बौद्ध धर्म मूल रूप में अंतर्राष्ट्रीय था, विश्वधर्म था। जैसे-जैसे उसका विकास और विस्तार हुआ वैसे-वैसे उसका यह रूप और विकसित होता गया। इसलिए पुराने ब्राह्मण धर्म के लिए स्वाभाविक था कि वह बार-बार राष्ट्रीय पुनर्जागरण का प्रतीक बने।

वह धर्म और दर्शन भारत के भीतरी धर्मों और जातीय तत्त्वों के प्रति तो सहनशील और उदार था और उन्हें व्यापक ढाँचे में लगातार आत्मसात करता जाता था, पर विदेशियों के प्रति उसकी उग्रता बराबर बढ़ती जाती थी और वह अपने आपको उनके प्रभाव से बचाने की कोशिश करता था। ऐसा करने से उनमें जो राष्ट्रवादी चेतना पैदा हुई थी वह अक्सर साम्राज्यवाद की शक्ल अख़्तियार करने लगती थी, जैसा कि प्रायः शक्ति बढ़ जाने पर होता है। गुप्त शासकों का समय बहुत प्रबुद्ध, शक्तिशाली, अत्यंत सुसंस्कृत और तेजस्विता से भरपूर था। फिर भी उसमें तेजी से यह साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ विकसित हो गईं। इनके बहुत बड़े शासक समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन कहा गया है। साहित्य और कला की दृष्टि से यह बहुत शानदार समय था।

चौथी शताब्दी के आरंभ से लेकर लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक गुप्त वंश ने उत्तर में एक बड़े शक्तिशाली और समृद्ध राज्य पर शासन किया। इसके बाद लगभग डेढ़ सौ वर्ष और उनके उत्तराधिकारी राज्य करते रहे पर वे अपने बचाव में लगे रहे और साम्राज्य सिकुड़ कर लगातार छोटा होता चला गया। मध्य

एशिया से नए आक्रमणकारी भारत में आ रहे थे और उस पर हमला कर रहे थे। ये "गोरे हूण" कहलाते थे जिन्होंने मुल्क में उसी तरह बड़ी लूटमार की जिस तरह एटिला यूरोप में कर रहा था। उनकी बर्बरता और पैशाचिक क्रूरता ने आखिर लोगों को भड़का दिया और यशोवर्मन के नेतृत्व में दुरभिसंधि के तहत उन पर संगठित होकर आक्रमण किया गया। हूणों का बल टूट गया और उनके सरदार मिहिरगुल को बंदी बना लिया गया। लेकिन गुप्तों के वंशज बालादित्य ने अपने देश की रीति के अनुसार उसके प्रति उदारता का व्यवहार किया और उसे भारत से लौट जाने दिया। मिहिरगुल ने इस व्यवहार का यह बदला दिया कि लौटकर अपने मेहरबान पर कपटपूर्ण हमला कर दिया।

लेकिन उत्तर भारत में हूणों का शासन बहुत थोड़े समय रहा—लगभग आधी-शताब्दी। उनमें से बहुत से लोग देश में छोटे-छोटे सरदारों के रूप में यहीं रह गए। वे कभी-कभी परेशानी पैदा करते थे और भारतीय जन समुदाय के सागर में जज़्ब होते जाते थे। इनमें से कुछ सरदार सातवीं शताब्दी के आरंभ में आक्रमणकारी हो गए। उनका दमन कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने किया, जिन्होंने इसके बाद उत्तर से लेकर मध्य भारत तक एक बहुत शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। वे कट्टर बौद्ध थे। उनका बौद्ध धर्म महायान सम्प्रदाय का था जो अनेक रूपों में हिन्दूवाद से मिलता-जुलता था। उन्होंने बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म दोनों को बढ़ावा दिया। उन्हीं के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुआन त्सांग (या युआन च्वान) भारत आया था (629 ई. में)। हर्षवर्धन कवि और नाटककार था और उसने अपने दरबार में बहुत से कलाकारों और कवियों को इकट्ठा किया था। उसने अपनी राजधानी उज्जयिनी को सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रसिद्ध केंद्र बनाया था। हर्ष की मृत्यु 648 ई. में हुई थी। यह लगभग वह समय था जब अरब के रेगिस्तानों से अफ्रीका और एशिया में तेजी से फैलने के लिए इस्लाम सिर उठा रहा था।

दक्षिण भारत

दक्षिण-भारत में मौर्य साम्राज्य के सिमटकर अंत हो जाने के एक हज़ार साल से भी ज़्यादा समय तक बड़े-बड़े राज्य फूले-फले। आंध्रों ने शकों को हराया और बाद में वे कुषाणों के समकालीन रहे, उसके बाद पश्चिम में चालुक्य साम्राज्य स्थापित हुआ और उसके बाद राष्ट्रकूट आए। दक्षिण में और आगे पल्लवों का राज्य था जिन्होंने मुख्य रूप से उपनिवेश कायम करने के लिए अभियान किए। इसके बाद चोल-राज्य की स्थापना हुई जो सारे प्रायद्वीप पर छा गया और उसने लंका और दक्षिण बर्मा पर भी अधिकार कर लिया। चोल-राजाओं में अंतिम बड़े राजा राजेंद्र की मृत्यु 1044 ई. में हुई।

दक्षिणी भारत अपनी बारीक दस्तकारी और समुद्री व्यापार के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। उसकी गिनती समुद्री ताकतों में होती थी, और इनके जहाज़ दूर देशों तक माल पहुँचाया करते थे। वहाँ यूनानियों की बस्तियाँ थी और रोमन सिक्के भी वहाँ पाए गए। चालुक्य राज्य और ईरान के सासानी शासकों के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान भी हुआ था।

उत्तरी भारत पर बार-बार होने वाले हमलों का सीधा प्रभाव दक्षिण पर नहीं पड़ा। इसका परोक्ष प्रभाव यह ज़रूर हुआ कि बहुत से लोग उत्तर से दक्षिण में जाकर बस गए। इन लोगों में राजगीर, शिल्पी और कारीगर भी शामिल थे। इस प्रकार दक्षिण पुरानी कलात्मक-परंपरा का केंद्र बन गया और उत्तर उन नई धाराओं से अधिक प्रभावित हुआ, जो आक्रमणकारी अपने साथ लाते थे। यह प्रक्रिया बाद की सदियों में और तीव्र होती गई और दक्षिण, हिंदू रूढ़िवादिता का गढ़ बन गया।

शांतिपूर्वक विकास और युद्ध के तरीके

बार-बार के हमलों और एक के बाद दूसरे साम्राज्य की स्थापना का जो

संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत किया गया, उससे इस बारे में ग़लतफ़हमी हो सकती है कि भारत में क्या हो रहा था। इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि जिस युग का ज़िक्र किया गया है उसका समय 1000 वर्ष या उससे भी अधिक है। इस बीच देश में शांतिपूर्ण और व्यवस्थित शासन के लंबे दौर रहे हैं।

मौर्य, कुषाण, गुप्त और दक्षिण में आंध्र, चालुक्य, राष्ट्रकूट के अलावा और भी राज्य ऐसे हैं जो दो-दो, तीन-तीन सौ वर्षों तक कायम रहे। अब तक अंग्रेजी राज्य को भारत में कायम हुए कुल जितना समय गुज़रा है इनका समय आमतौर पर उससे अधिक रहा है। इनमें लगभग सभी राजवंश देशी थे। कुषाणों जैसे लोगों ने जो उत्तरी सीमा पार से आए थे जल्दी अपने आपको इस देश और इसकी सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप ढाल लिया। ये उन्हीं शासकों की तरह कार्य करने लगे जिनकी जड़ें भारत में ही थीं।

जब कभी दो राज्यों के बीच युद्ध या कोई आंतरिक राजनीतिक आंदोलन होता था, तो आम जनता की जीवन-चर्या में बहुत कम हस्तक्षेप किया जाता था।

अपने लंबे इतिहास में भारत ने ऐसे बहुत से संकट के दौर देखे हैं, जब उसे आगज़नी, तलवार या अकाल से पैदा होने वाले विनाश का सामना करना पड़ा और उसकी आंतरिक व्यवस्था ढह गई। फिर भी इस इतिहास के व्यापक सर्वेक्षण से इस बात का संकेत मिलता है कि यहाँ शांतिपूर्ण और व्यवस्थित जीवन के लंबे दौर जो आते रहे हैं वे यूरोप की तुलना में कहीं अधिक हैं। यह धारणा असामान्य रूप से भ्रामक है कि अंग्रेजी राज ने पहली बार भारत में शांति और व्यवस्था कायम की। यह अलबत्ता सही है कि जब भारत में अंग्रेजी शासन कायम हुआ, उस समय देश अवनति की पराकाष्ठा पर था। राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था टूट चुकी थी। वास्तव में यही कारण था कि वह राज यहाँ कायम हो सका।

प्रगति बनाम सुरक्षा

भारत में भी अतीत का हमेशा गुणगान किया गया है। यहाँ जिस सभ्यता का निर्माण किया गया उसका मूल आधार स्थिरता और सुरक्षा की भावना थी और इस दृष्टि से वह उन तमाम सभ्यताओं से कहीं अधिक सफल रही जिनका उदय पश्चिम में हुआ था। वर्ण-व्यवस्था और संयुक्त परिवारों पर आधारित सामाजिक ढाँचे ने इस उद्देश्य को पूरा करने में सहायता की। समूह को इससे सामाजिक सुरक्षा मिली और ऐसे व्यक्तियों को जो आयु, कमज़ोरी या ऐसी ही किसी और लाचारी के कारण अपना पेट नहीं भर सकते थे, एक तरह का बीमा। ऐसी व्यवस्था कमज़ोर वर्ग की पक्षधर होकर, एक हद तक मजबूत वर्ग के रास्ते की रुकावट बनती है। यह औसत ढंग के लोगों को बढ़ावा देती है और असाधारण, बुरे या प्रतिभाशाली के लिए बाधक होती है। यह अच्छे-बुरे के भेद को मिटाकर सबको एक स्तर पर ले आती है और इस तरह व्यक्तिवाद की भूमिका इसमें बहुत कम रह जाती है। यह ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि जहाँ भारतीय दर्शन अत्यधिक व्यक्तिवादी है और उसकी लगभग सारी चिंता व्यक्ति के विकास—एक तरह की भीतरी पूर्णता की सिद्धि को लेकर है वहाँ भारत का सामाजिक ढाँचा सामुदायिक था और उसमें सिर्फ समुदायों पर ध्यान दिया जाता था। व्यक्ति को इस बात की पूरी स्वतंत्रता थी कि जैसा चाहे सोचे और जिस पर चाहे विश्वास करे पर उसे सामाजिक और सामुदायिक रीति रिवाजों का कड़ाई से पालन करना पड़ता था।

इस सारी पाबंदी के बावजूद पूरे समुदाय को लेकर बहुत लचीलापन भी था। ऐसा कोई कानून या सामाजिक नियम नहीं था, जिसे रीति-रिवाज से बदला न जा सके। यह भी संभव था कि नए समुदाय अपने अलग-अलग रीति-रिवाजों, विश्वासों और जीवन-व्यवहार को बनाए रखकर बड़े सामाजिक संगठन के अंग बने रहें। इसी लचीलेपन और अपने को औरों के अनुकूल ढाल लेने की क्षमता ने

विदेशी तत्त्वों को आत्मसात करने में सहायता की। इस सबके मूल में कुछ बुनियादी नैतिक सिद्धांत थे और जीवन के प्रति एक दार्शनिक रवैया और दूसरों के तौर-तरीकों को लेकर सहनशीलता थी।

जब तक स्थायित्व और सुरक्षा मुख्य लक्ष्य रहे, यह ढाँचा कमोबेश सफलता से चलता रहा। यहाँ तक कि जब आर्थिक परिवर्तनों ने इसकी जड़ें खोदीं तब भी अपने को परिस्थिति के अनुरूप ढालकर यह बना रहा। इसके सामने असली चुनौती सामाजिक विकास की नई गत्यात्मक अवधारणा से आई जो पुराने जड़ विचारों से मेल नहीं खाती थी। यह अवधारणा पूरब की पुरानी प्रतिष्ठित व्यवस्था को उसी तरह जड़ से उखाड़ रही है जिस तरह इसने पश्चिम में किया है।

प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की प्रगति के सामने ऐसी कोई चुनौती नहीं थी। परन्तु परिवर्तन और परिस्थितियों के अनुसार अपने को बराबर ढालते रहने की आवश्यकता को यहाँ बराबर पहचाना गया। इसीलिए समन्वय का उत्साह बराबर बढ़ता गया। समन्वय केवल भारत में बाहर से आने वाले विभिन्न तत्त्वों के साथ नहीं किया गया, बल्कि व्यक्ति के बाहरी और भीतरी जीवन तथा मनुष्य और प्रकृति के बीच भी समन्वय करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। उस समय ऐसी विकराल खाइयाँ और दरारें नहीं दिखाई पड़तीं जैसी आज मौजूद हैं। इस सामान्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने भारत का निर्माण किया और इस पर विविधता के बावजूद एकता की मोहर लगाई। राजनीतिक ढाँचे के मूल में स्वशासी ग्राम व्यवस्था थी। राजा आते जाते रहे पर यह व्यवस्था नींव की तरह क़ायम रही। बाहर से आने वाले नए लोग और आक्रमणकारी इस ढाँचे में इन जड़ों को छुए बिना सिर्फ़ सतही हलचल पैदा कर पाते थे। राज सत्ता चाहे देखने में कितनी निरंकुश लगती हो, रीति-रिवाजों और वैधानिक बंधनों से सैंकड़ों रूपों में कुछ इस तरह नियंत्रित रहती थी कि कोई शासक ग्राम समुदाय के सामान्य और विशेषाधिकारों में आसानी से दखल नहीं दे सकता था। इन प्रचलित अधिकारों के तहत समुदाय

और व्यक्तित्व दोनों की स्वतंत्रता एक हद तक सुरक्षित रहती थी।

ऐसा लगता है, ऐसे हर तत्त्व ने जो बाहर से भारत में आया और जिसे भारत ने जज़्ब कर लिया, भारत को कुछ दिया और उससे बहुत कुछ लिया। इससे उसकी अपनी, और भारत की शक्ति में वृद्धि हुई। पर जहाँ वह अलग-थलग रहा, यह भारतीय जीवन में, और उसकी समृद्ध और विविधतापूर्ण संस्कृति में साझेदारी नहीं कर सका, वहाँ उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। वह अन्ततः नष्ट हो गया, और कभी-कभी इस प्रक्रिया में उसने खुद को या भारत को नुकसान पहुँचाया।

भारत का प्राचीन रंगमंच

यह बात अब सामान्य रूप से स्वीकार कर ली गई है कि भारतीय रंगमंच अपने मूल में, संबद्ध विचारों में और अपने विकास में पूरी तरह स्वतंत्र था। इसका मूल उद्गम ऋग्वेद की उन ऋचाओं और संवादों में खोजा जा सकता है जिनमें एक हद तक नाटकीयता है। रामायण और महाभारत में नाटकों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण-लीला से संबंधित गीत, संगीत और नृत्य में इसने आकार ग्रहण करना आरंभ कर दिया था। ई. पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी के महान वैयाकरण पाणिनि ने कुछ नाट्य-रूपों का उल्लेख किया है।

रंगमंच की कला पर रचित "नाट्यशास्त्र" को ईसा की तीसरी शताब्दी की रचना कहा जाता है। पर इसकी रचना, स्पष्ट रूप से इस विषय पर इससे पहले लिखे गए ग्रंथों के आधार पर की गई है। ऐसे ग्रंथ की रचना तभी हो सकती थी, जब नाट्य कला पूरी तरह विकसित हो चुकी हो और नाटकों की सार्वजनिक प्रस्तुति आम बात हो। इससे पहले काफी साहित्य लिखा जा चुका होगा और इसके पीछे कई शताब्दियों का क्रमिक विकास रहा होगा। हाल ही में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में एक ऐसी नाट्यशाला का पता चला है

जिसका समय ई.पू. दूसरी शताब्दी है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि नाट्यशास्त्र में रंगशालाओं का जो सामान्य विवरण दिया गया है, यह नाट्यशाला उससे मेल खाती है।

अब यह माना जाने लगा है कि नियमित रूप से लिखे गए संस्कृत नाटक ई.पू. तीसरी शताब्दी तक पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे, बल्कि कुछ विद्वान मानते हैं कि यह स्थिति ई.पू. पांचवीं शताब्दी में ही हो गई थी। जो नाटक हमें मिले हैं उनमें पहले के ऐसे रचनाकारों और नाटकों का अक्सर हवाला दिया गया है जो अभी तक नहीं मिले हैं। ऐसे खोए हुए नाटककारों में एक भास था, जिसकी बाद के कई नाटककारों ने प्रशंसा की है। इस शताब्दी के आरंभ में, उसके तेरह नाटकों का एक संग्रह खोज में मिला है। अब तक मिले संस्कृत नाटकों में प्राचीनतम नाटक अश्वघोष के हैं। वह ई. सन् के आरंभ के ठीक पहले या बाद में हुआ था। ये वस्तुतः ताड़-पत्र पर लिखित पाण्डुलिपियों के अंश मात्र हैं, और आश्चर्य की बात यह है कि ये गोबी रेगिस्तान की सरहदों पर तुरफान में मिले हैं। अश्वघोष धर्मपरायण बौद्ध था। उसने "बुद्ध चरित" नाम से बुद्ध की जीवनी लिखी। यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हुआ और बहुत समय पहले भारत, चीन और तिब्बत में बहुत लोकप्रिय हुआ। किसी समय इसका चीनी अनुवाद एक भारतीय विद्वान ने किया था।

प्राचीन भारतीय नाटक के इतिहास को इन खोजो से एक नया रूप मिला है और यह संभव है कि आगे होने वाली खोजों और उनमें प्राप्त रचनाओं से भारतीय संस्कृति के इस सम्मोहक विकास पर और प्रकाश पड़े।

यूरोप को प्राचीन भारतीय नाटक के बारे में पहली जानकारी 1789 में तब हुई जब कालिदास के "शकुंतला" का सर विलियम जोंस कृत अनुवाद प्रकाशित हुआ। यूरोप के बुद्धिजीवियों में इस खोज से हलचल–सी मच गई, और पुस्तक के कई संस्करण प्रकाशित हुए। सर विलियम जोंस के अनुवाद के आधार पर

जर्मन, फ्रेंच, डैनिश और इटालियन में भी इसके अनुवाद हुए। गेटे पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और उसने "शकुंतला" की अत्यधिक प्रशंसा की। कहा जाता है कि उसके मन में "फ्राउस्ट" की प्रस्तावना लिखने का विचार कालिदास की प्रस्तावना को पढ़कर उठा जो संस्कृत नाटकों की सामान्य परंपरा के अनुसार लिखी गई थी।

कालिदास को संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना गया है। कालिदास ने कुछ और नाटक और लंबी कविताएं भी लिखीं। उसका समय अनिश्चित है, पर अधिक संभावना यही है कि वह चौथी शताब्दी के अंत में गुप्त वंश के चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के शासन-काल में उज्जयिनी में था। परंपरा का कहना है कि वह दरबार के नौ रत्नों में से एक था। इसमें संदेह नहीं है कि उसकी प्रतिभा की प्रशंसा हुई और उसे अपने जीवन काल में ही पूरी मान्यता मिली। वह उन भाग्यवानों में से था जिसके साथ ज़िंदगी ने दुलारे बेटे का-सा बर्ताव किया; और उसने जीवन की कठोरता और खुरदरेपन की तुलना में उसकी सुंदरता और कोमलता का अनुभव अधिक किया। उसकी रचनाओं में जीवन के प्रति प्रेम, और प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति आवेग का भाव मिलता है।

कालिदास की एक लंबी कविता है "मेघदूत"। एक प्रेमी, जिसे बंदी बनाकर उसकी प्रेयसी से अलग कर दिया गया है, वर्षा ऋतु में, एक बादल से अपनी तीव्र चाहत का संदेश उस तक पहुँचाने के लिए कहता है। अमरीकी विद्वान राइडर ने कालिदास और उसकी इस कविता की बहुत प्रशंसा की है। कविता के दो भागों का हवाला देते हुए वे कहते हैं–"इसके पूर्वार्द्ध में बाह्य प्रकृति का वर्णन किया गया है, लेकिन वह मानवीय अनुभूति से गुंथा है; उत्तरार्द्ध में मानवीय हृदय का चित्र अंकित है, लेकिन यह चित्र प्राकृतिक सौंदर्य के चौखटे में जड़ा है। यह काम इतनी खूबसूरती से किया गया है कि यह तय कर पाना मुश्किल है कि कौन-सा आधा हिस्सा बेहतर है। जो लोग इस पूरी कविता को

इसके मूल रूप में पढ़ते हैं, उनमें से कोई एक भाग में और कोई दूसरे भाग से अधिक प्रभावित होता है। कालिदास ने पाँचवीं शताब्दी में इस बात को समझ लिया था, जिसे यूरोप ने अठारहवीं शताब्दी तक नहीं समझा, और जो अब तक उसे अधूरे रूप में ही समझ रहा है, यानी यह संसार मनुष्य के लिए नहीं बनाया गया था। मनुष्य अपनी पूरी ऊँचाई तक तभी पहुँच सकता है जब वह मनुष्येतर जीवन की महिमा और मूल्य को समझ लेता है। कालिदास ने इस सत्य को पा लिया था, यह उसकी बौद्धिक क्षमता की शानदार विशेषता है। महान कविता के लिए यह विशेषता उतनी ही ज़रूरी है जितनी बाहरी रूप की पूर्णता।"

कालिदास से संभवतः काफी पहले एक बहुत प्रसिद्ध नाटक की रचना हुई थी--शूद्रक का "मृच्छकटिक" या मिट्टी की गाड़ी। यह एक कोमल और एक हद तक बनावटी नाटक है। लेकिन इसमें ऐसा सत्य है जो हमें प्रभावित करता है और हमारे सामने उस समय की मानसिकता और सभ्यता की झाँकी प्रस्तुत करता है।

400 ई. के लगभग, चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में एक और प्रसिद्ध नाटक लिखा गया। यह विशाखदत्त का नाटक "मुद्राराक्षस" था। यह विशुद्ध राजनीतिक नाटक था, जिसमें प्रेम या किसी पौराणिक कथा को आधार नहीं बनाया गया है। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की कथा है और इसका नायक उसका मुख्यमंत्री चाणक्य है जिसने "अर्थशास्त्र" की रचना की थी। कुछ अर्थों में यह नाटक वर्तमान स्थिति में बहुत प्रासंगिक है।

राजा हर्ष, जिसने सातवीं सदी ई. में एक नया साम्राज्य कायम किया, नाटककार भी था। हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। सातवीं सदी के आसपास ही भवभूति हुआ, जो संस्कृत साहित्य का चमकता सितारा था। उसकी कृतियों अनुवाद करना आसान नहीं है, क्योंकि उसका सौंदर्य मुख्य रूप से उसकी भाषा में है। लेकिन वह भारत में बहुत लोकप्रिय हुआ और केवल कालिदास का ही स्थान उसके ऊपर माना जाता है।

संस्कृत नाटकों की यह धारा सदियों तक बहती रही लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में, मुरारी के बाद गुणात्मक दृष्टि से स्पष्ट रूप से उसमें ह्रास दिखाई देने लगा। यह ह्रास और उत्तरोत्तर क्षय जीवन के अन्य व्यापारों में भी दिखाई पड़ने लगा था।

प्राचीन नाटकों की (कालिदास के तथा अन्य लोगों के) भाषा मिली-जुली है--संस्कृत और उसके साथ एक या एकाधिक प्राकृत, यानी संस्कृत के बोलचाल में प्रचलित रूप। उसी नाटक में शिक्षित पात्र संस्कृत बोलते हैं और सामान्य अशिक्षित जन समुदाय, प्रायः स्त्रियाँ प्राकृत, हालाँकि उनमें अनुवाद भी मिलते हैं। काव्यात्मक और प्रगीतात्मक अंश, जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में है। इस मिली-जुली भाषा के कारण ये नाटक दर्शकों को अधिक पसंद आते थे। यह साहित्यिक भाषा और लोकप्रिय कला की माँगों के बीच समझौता था।

फिर भी प्राचीन नाटक अनिवार्य रूप से संभ्रांत दर्शकों के अक्सर राज-दरबारों या उसी प्रकार के अभिजात दर्शकों के लिए अभिजात्यवादी कला को प्रस्तुत करते हैं।

लेकिन इस ऊँचे दर्जे के साहित्यिक रंगमंच के अलावा हमेशा एक लोकमंच रहा है। इसका आधार भारतीय पुरा-कथाएँ और महाकाव्यों से ली गई कथाएँ होती थीं। दर्शकों को इन विषयों की अच्छी तरह जानकारी रहती थी और इनका सरोकार नाटकीय तत्त्व से कहीं अधिक प्रस्तुति पर रहता था। ये अलग-अलग क्षेत्रों की बोलियों में रचे जाते थे, अतः उस क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहते थे। दूसरी ओर संस्कृत-नाटकों का चलन पूरे भारत में था क्योंकि उनकी भाषा पूरे भारत के शिक्षित समुदाय की भाषा थी।

संस्कृत-भाषा की जीवंतता और स्थायित्व

संस्कृत अद्‌भुत रूप से समृद्ध भाषा है-- अत्यंत विकसित और नाना प्रकार

से अलंकृत। इसके बावजूद वह नियम और व्याकरण के उस ढाँचे में सख्ती से जकड़ी है जिसका निर्माण 2600 वर्ष पहले पाणिनि ने किया था। इसका प्रसार हुआ, संपन्न हुई, भरी-पूरी और अलंकृत हुई, पर इसने अपने मूल को नहीं छोड़ा।

संस्कृत साहित्य के पतन के काल में भाषा ने अपनी कुछ शक्ति और शैली की सादगी खो दी। वह अत्यधिक जटिल रूपों और उपमाओं-रूपकों के विस्तार में उलझकर रह गई। शब्दों को समासों के रूप में जोड़ने वाले व्याकरणिक नियम पंडितों के हाथों में पड़कर, चातुरी प्रकट करने के साधन मात्र हो गए। वे शब्दों को जोड़कर कई पंक्तियों में जाकर समाप्त होने वाली दूरांतरप्रवाही वाक्य रचनाओं के माध्यम से अपने कौशल का प्रदर्शन करने लगे।

सर विलियम जोन्स ने 1784 में कहा था–"संस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, उसकी बनावट अद्‌भुत है, यूनानी भाषा के मुकाबिले यह अधिक पूर्ण है, लातीनी के मुकाबले अधिक उत्कृष्ट है और दोनों के मुकाबले अधिक परिष्कृत है। धातु रूपों और व्याकरण के रूपों में दोनों के साथ यह इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि यह संयोग आकस्मिक नहीं हो सकता। यह समानता इतनी गहरी है कि कोई भाषा-शास्त्री इनकी जाँच यह विश्वास किए बिना नहीं कर सकता कि इन सभी भाषाओं का स्रोत एक ही है, जो शायद अब मौजूद नहीं रहा है।"

हम लोगों में से उनके लिए भी जिन्होंने संस्कृत पढ़ी है, इस प्राचीन भाषा की चेतना में बैठकर इसकी पुरानी दुनिया में फिर से जीना बहुत आसान नहीं है। लेकिन हम कुछ हद तक ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि हम उन पुरानी परंपराओं के वारिस हैं और वह पुरानी दुनिया हमारी कल्पना से अब भी चिपकी है। संस्कृत आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है। उनका अधिकांश शब्द-कोश और अभिव्यक्ति का ढंग संस्कृत की देन है। संस्कृत काव्य और दर्शन के बहुत से सार्थक और महत्त्वपूर्ण शब्द, जिनका विदेशी भाषाओं में अनुवाद नहीं किया जा सकता, आज भी हमारी

लोकप्रचलित भाषाओं में जीवित हैं। और संस्कृत में जो जन-भाषा के रूप में बहुत पहले मर चुकी है, आज भी अद्‌भुत जीवनी शक्ति है।

प्राचीन भारतीय नाद पर बहुत बल देते थे। इसलिए उनकी रचनाओं में, चाहे वे गद्य में हो या पद्य में, विशेष लयात्मकता और संगीतात्मकता मिलती है। शब्दों के सही उच्चारण के लिए विशेष प्रयास किया जाता था और इसके लिए विस्तार से नियम बनाए गए थे।

आज भी वेद-पाठ उच्चारण के उन निश्चित नियमों के अनुसार किया जाता है, जो प्राचीन काल में बनाए गए थे।

षट्‌-दर्शन

भारतीय दर्शनों की शुरुआत बुद्ध के समय से पहले हुई थी। ब्राह्मण और बौद्ध दर्शनों का विकास क्रमशः एक-दूसरे के समानांतर हुआ। इस दौरान ये अक्सर एक-दूसरे की आलोचना भी करते रहे और एक-दूसरे की बातों को ग्रहण भी करते रहे। ईसवी सन्‌ के शुरू होने से पहले छः ब्राह्मण संप्रदायों ने ऐसे तमाम घालमेल के बीच से उठकर सुनिश्चित रूप ग्रहण कर लिया। इनमें से प्रत्येक का निजी दृष्टिकोण है, अलग तर्क-पद्धति है, फिर भी ये एक-दूसरे से जुदा नहीं थे बल्कि एक बृहत्तर योजना के अंग थे।

इन छः दर्शनों के नाम हैं—(1) न्याय, (2) वैशेषिक, (3) सांख्य, (4) योग, (5) मीमांसा, और (6) वेदांत।

न्याय की पद्धति तर्क और विश्लेषण की पद्धति है। वास्तव में न्याय का अर्थ ही है तर्क या विवेक-शास्त्र। अनेक रूपों में यह अरस्तू की तर्क-पद्धति से मिलती है, गोकि दोनों में बुनियादी अंतर भी है। न्याय-दर्शन के बुनियादी सिद्धांतों को बाकी सब पद्धतियों ने स्वीकार कर लिया और एक तरह के मानसिक संयम के रूप में प्राचीन और मध्य युग से लेकर आज तक भारत के

स्कूलों और विश्वविद्यालयों में न्याय की शिक्षा दी जाती है।

यह पद्धति अलबत्ता वस्तुगत अनुसंधान की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से बहुत भिन्न है। फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनाधर्मी और वैज्ञानिक थी। आस्था पर निर्भर रहने की बजाय उसमें ज्ञान के विषयों की विवेचनात्मक जाँच करते हुए तर्कसम्मत प्रमाण की पद्धति से एक कदम आगे बढ़ने का प्रयास किया गया था।

वैशेषिक दर्शन अनेक रूपों में न्याय के समान है। वह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर बल देता है, और सृष्टि के बारे में परमाणु-सिद्धांत का विकास करता है। इसमें सृष्टि को धर्म सिद्धांत अर्थात् नैतिक नियम के अधीन बताया गया है, और पूरा दर्शन इसी पर केंद्रित है। ईश्वर के अनुमान को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों और आरंभिक बौद्ध दर्शन में समानता के बहुत से बिंदु हैं। कुल मिलाकर उनका नज़रिया यथार्थवादी है।

सांख्य दर्शन, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसे कपिल ने (लगभग ई.पू. सातवीं शताब्दी) बहुत-सी प्राचीन और बुद्ध से पहले प्रचलित विचारधाराओं के आधार पर निर्मित किया था, विलक्षण है। रिचर्ड गार्ब के अनुसार "कपिल के सिद्धांत में, विश्व के इतिहास में पहली बार मानव मस्तिष्क की पूरी स्वतंत्रता, और उसकी अपनी शक्तियों में पूर्ण आत्मविश्वास की बात प्रस्तुत की गई।"

बौद्ध दर्शन के उदय के बाद सांख्य ने बहुत सुव्यवस्थित दर्शन का रूप ग्रहण कर लिया।

बौद्ध दर्शन की ही तरह सांख्य ने भी पड़ताल की तार्किक शैली का सहारा लिया और बौद्ध दर्शन की चुनौती का सामना उसी की पद्धति से, बिना किसी प्रमाण का सहारा लिए किया। इस बुद्धिवादी नज़रिये के कारण, ईश्वर की सत्ता से इंकार करना ज़रूरी था। इसलिए सांख्य दर्शन में ईश्वर न वैयक्तिक है न निर्वैयक्तिक, न वहाँ एकेश्वरवाद है न अद्वैतवाद। उसका दृष्टिकोण नास्तिकतावादी

था और उसने अलौकिक धर्म की नींव को हिला दिया। इनके अनुसार, यह विश्व किसी ईश्वर की सृष्टि नहीं है। यह तो निरंतर विकासमान है, आत्मा बल्कि आत्माओं और प्रकृति की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न है, गोकि प्रकृति स्वयं शक्तिरूपा है। विकास एक निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य को द्वैतवादी दर्शन कहा जाता है, क्योंकि उसका ढाँचा दो आदि कारणों पर निर्मित है—निरंतर सक्रिय और परिवर्तनशील प्रकृति और चेतन पुरुष जो अपरिवर्तनशील है। चेतन पुरुष या आत्माएँ असंख्य हैं।

पतंजलि का योग दर्शन, मूलतः शरीर और मन के संयम की विधि है जिससे मानसिक और आत्मिक प्रशिक्षण होता है। पतंजलि ने इस प्राचीन दर्शन को सुनिश्चित रूप ही नहीं दिया, साथ ही पाणिनि के संस्कृत व्याकरण का एक प्रसिद्ध भाष्य भी लिखा। "महाभाष्य" के नाम से प्रसिद्ध यह टीका उतनी ही प्रतिष्ठित है जितना पाणिनि का व्याकरण। विवेकानंद योग और वेदांत के आधुनिक समर्थकों में सबसे महान हैं। उन्होंने योग के प्रयोगात्मक पक्ष पर, और उसे विवेक का आधार देने पर बार-बार ज़ोर दिया।

इसके बाद अगला दर्शन हैं मीमांसा। यह दर्शन कर्मकांडपरक है और इसका झुकाव बहुदेववाद की ओर है। आधुनिक लोक-प्रचलित हिन्दूवाद और हिन्दू विधान पर इस दर्शन और इसके नियमों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। ये नियम बताते हैं कि इस दर्शन के अनुसार धर्म या उचित आचार क्या है।

इस क्रम में छठा और अंतिम दर्शन वेदांत है। उपनिषदों से निकलने वाले इस दर्शन ने विकसित होकर अनेक रूप ग्रहण किए किन्तु इसका आधार हमेशा सृष्टि का अद्वैत दर्शन रहा।

पुराने वेदांत के आधार पर शंकर (या शंकराचार्य) ने अद्वैतवेदांत का निर्माण किया। वर्तमान हिन्दूवाद के प्रमुख दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व यही दर्शन करता है।

इसका आधार विशुद्ध अद्वैतवाद है; आधिभौतिक अर्थ में चरम सत्य आत्मा या परब्रह्म है। वही कर्ता है, बाकी सब पदार्थ है। यह परब्रहम कैसे सर्वव्यापी है, वह एक होकर भी अनेक प्रतीत होता है, और फिर भी संपूर्ण बना रहता है। क्योंकि वह अखंड है और उसका विभाजन नहीं किया जा सकता—इन सब बातों को तर्क-पद्धति से नहीं समझा जा सकता क्योंकि हमारा मानस सीमित जगत से बँधा है।

शंकराचार्य ने वर्णाश्रम पर आधारित सामाजिक जीवन की ब्राहमण-व्यवस्था को यह मानकर स्वीकार कर लिया कि वह संपूर्ण जाति के सामूहिक अनुभव और समझ का प्रतिनिधित्व करती है। पर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि किसी भी जाति का व्यक्ति उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

शंकर अद्भुत शक्ति सम्पन्न और अत्यंत कर्मठ व्यक्ति थे। दूसरों का क्या होता है इसकी परवाह किए बिना वे अपने ही भीतर सिमटकर या जंगल के किसी कोने में एकांतवास करते हुए अपनी पूर्णता की साधना करने वाले पलायनवादी नहीं थे। उनका जन्म सुदूर दक्षिण में मालाबार में हुआ था। वे लगातार पूरे भारत की यात्रा करते रहे। असंख्य लोगों से मिलकर उनसे तर्क और वाद-विवाद किया, उन्हें कायल किया और अपने उत्साह और अपार जीवनी-शक्ति का हिस्सेदार बनाया। ज़ाहिर है कि वे ऐसे व्यक्ति थे जो अपने लक्ष्य के बारे में अत्यधिक सजग थे। कन्याकुमारी से हिमालय तक संपूर्ण भारत को वे अपना कार्य-क्षेत्र समझते थे और उसे ऐसी इकाई के रूप में देखते थे जो सांस्कृतिक दृष्टि से एक थी और बाहरी रूपों की तमाम भिन्नता के बावजूद जिसमें एक ही मूल चेतना व्याप्त थी। उनके समय में भारतीय मानस को उद्वेलित करने वाली जो विभिन्न धाराएँ बह रही थी, शंकराचार्य ने उनमें समन्वय स्थापित करने की पूरी कोशिश की ताकि उस अनेकता में से दृष्टिकोण की एकता का निर्माण हो सके। बत्तीस वर्ष के छोटे से जीवन में उन्होंने कई लंबी ज़िंदगियों के बराबर

ाम कर दिखाया। उन्होंने भारत पर अपने शक्तिशाली मानस और समृद्ध यक्तित्व की ऐसी छाप छोड़ी जो आज तक दिखाई पड़ती है। उनमें दार्शनिक गैर विद्वान का, अज्ञेयवादी और रहस्यवादी का, कवि और संत का विचित्र मेश्रण था। इसके साथ ही वे सक्रिय समाज सुधारक और कुशल संगठनकर्ता थे। न्होंने ब्राह्मण-धर्म के भीतर पहली बार दस पंथ बनाए। इनमें से चार आज भी ूरी तरह वर्तमान हैं। उन्होंने भारत के लगभग चार कोनों में, एक-दूसरे से बहुत ूर, चार बड़े मठों की स्थापना की। इनमें से एक दक्षिण में था—मैसूर के शृंगेरी थल पर। दूसरा पूर्वी समुद्र तट पर पुरी में था। तीसरा पश्चिमी समुद्र तट पर ाठियावाड़ में द्वारिका में था, और चौथा हिमालय के बीचों-बीच बद्रीनाथ में था। क्षिण के गरम प्रदेश के वासी इस ब्राह्मण का, बर्फ से ढके हिमालय की ऊँचाइयों में स्थित केदारनाथ में बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही देहांत हो गया।

ऐसा लगता है कि शंकर राष्ट्रीय एकता और समान चेतना के भाव को ढ़ाना चाहते थे। सारे देश में ज़्यादा वैचारिक एकता पैदा करने के लिए उन्होंने ौद्धिक, दार्शनिक और धार्मिक सभी स्तरों पर कार्य किया। उन्होंने सार्वजनिक तर पर भी बहुत काम किया। बहुत से रूढ़िगत सिद्धांतों को तोड़ते हुए, उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों के मंदिर के द्वार उन तमाम लोगों के लिए खोल दिए जो उसमें प्रवेश करने की योग्यता रखते थे। अपने चार बड़े मठों को उत्तर, दक्षिण, ूरब और पश्चिम में स्थापित करके, जाहिर है कि वे सांस्कृतिक दृष्टि से अखंड भारत की संकल्पना को बढ़ावा देना चाहते थे। ये चारों स्थान पहले से ही तीर्थ-स्थल थे और अब तो और भी अधिक हो गए।

प्राचीन भारतीयों ने अपने पवित्र तीर्थ-स्थानों का चुनाव कितनी अच्छी तरह किया था। अक्सर ये रमणीक स्थल चारों ओर से सुंदर प्राकृतिक छटा से घिरे होते थे। कश्मीर में अमरनाथ की बर्फीली गुफ़ा है, दक्षिणी भारत के अंतिम छोर पर रामेश्वरम के निकट कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है और हिमालय

के तल में बसा हुआ हरिद्वार है, जहाँ गंगा अपनी टेढ़ी-मेढ़ी घाटियों को पार करके मैदानी इलाके में बह निकलती है, और प्रयाग (या इलाहाबाद) है जहाँ गंगा-यमुना का संगम होता है, और यमुना तट पर बसे मथुरा और वृंदावन हैं, जो चारों ओर से कृष्ण-कथाओं से घिरे हैं, और बुद्ध गया जहाँ के बारे में कहा जाता है कि वहाँ गौतम ने बोध प्राप्त किया था। इसके अलावा दक्षिण में ऐसे बहुत से स्थल हैं। बहुत से प्राचीन मंदिरों में, विशेषकर दक्षिण में, प्रसिद्ध मूर्तियाँ और अन्य कलात्मक अवशेष हैं। इनमें से अनेक तीर्थस्थानों की यात्रा करने से प्राचीन भारतीय कला की जानकारी मिलती है।

दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय उपनिवेश और संस्कृति

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था, "मेरे देश को जानने के लिए उस युग की यात्रा करनी होगी जब भारत ने अपनी आत्मा को पहचानकर अपनी भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण किया, जब उसने अपनी हस्ती को ऐसी कांतिमान उदारता से उद्‌घाटित किया जिससे पूर्वी क्षितिज आलोकित हो उठा; जिससे विदेशी तटों के निवासियों ने उसकी पहचान उसे अपनाकर की थी। उन लोगों ने जो एक अचरज भरी ज़िन्दगी के प्रति जागरूक हो गए थे।"

हमें केवल बीते हुए समय में जाने की ही ज़रूरत नहीं है, बल्कि तन से नहीं तो मन से एशिया के विभिन्न देशों की यात्रा करने की ज़रूरत है जहाँ भारत ने अनेक रूपों में अपना विस्तार किया था, और अपनी आत्मा, अपनी शक्ति और अपने सौंदर्य-प्रेम की अमिट छाप छोड़ी थी।

पिछली चौथाई सदी के दौरान दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस दूर तक फैले क्षेत्र के इतिहास पर बहुत प्रकाश डाला गया है। इसे कभी-कभी वृहत्तर भारत कहा गया है। लेकिन अब भी बहुत सी कड़ियाँ नहीं मिलतीं, बहुत से अंतर्विरोध भी हैं। विद्वान लगातार एक-दूसरे के विरोध में सिद्धांत प्रस्तुत कर रहे हैं, लेकिन

सामान्य रूप से रूपरेखा काफी स्पष्ट हो चुकी है, और कभी-कभी ब्यौरे बहुतायत से मिलते हैं। सामग्री की कोई कमी नहीं है क्योंकि भारतीय पुस्तकों में हवाले मिलते हैं, अरब यात्रियों के लिखे हुए वृत्तांत हैं, और इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं चीन से प्राप्त ऐतिहासिक विवरण। इसके अलावा बहुत से पुराने शिलालेख हैं, ताम्र-पत्र इत्यादि हैं। जावा और बाली में भारतीय स्रोतों पर आधारित समृद्ध साहित्य है जिसमें अक्सर भारतीय महाकाव्यों और पुराकथाओं का भावानुवाद किया गया है। यूनानी और लातीनी स्रोतों से भी कुछ सूचनाएँ मिली हैं। लेकिन इन सबसे बढ़कर प्राचीन इमारतों के विशाल खंडहर हैं--विशेषकर अंगकोर और बोरोबुदुर में।

ईस्वी सन् की पहली सदी से शुरू होकर पूरब और दक्खिन पूरब में भारतीय उपनिवेशों की लहर पर लहर फैलती हुई लंका, बर्मा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्निओ, सियम, कंबोडिया और इंडोचीन तक जा पहुँची। इनमें से कुछ ने तो फार्मूसा, फिलीपीन टापुओं और सिलेबीज़ तक रास्ता बना लिया। मेडागास्कर तक की बोलचाल की भाषा इण्डोनीशियन है जिसमें संस्कृत-शब्द मिले-जुले हैं।

ईसा की पहली शताब्दी से लगभग 900 ईस्वी तक उपनिवेशीकरण की चार प्रमुख लहरें दिखाई पड़ती हैं। इनके बीच-बीच में पूरब की ओर जाने वाले लोगों का सिलसिला अवश्य रहा होगा। इन साहसिक अभियानों की सबसे विशिष्ट बात यह थी कि इनका आयोजन स्पष्टतः राज्य द्वारा किया जाता था। दूर-दूर तक फैले इन उपनिवेशों की शुरुआत लगभग एक साथ होती थी और ये उपनिवेश युद्ध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर और महत्त्वपूर्ण व्यापार-मार्गों पर कायम किए जाते थे। इन बस्तियों का नामकरण पुराने भारतीय नामों के आधार पर किया गया। इस तरह जिसे अब कंबोडिया कहते हैं, उस समय कंबोज कहलाया।

जावा स्पष्ट रूप से "यवद्वीप" या जौ का टापू है। यह आज भी एक अन्त त्रिशंप का नाम है। प्राचीन पुस्तकों में आए हुए नामों का संबंध भी प्रायः

खनिज, धातु या किसी उद्योग या खेती की पैदावार से होता है। इस नामकरण से खुद-ब-खुद ध्यान व्यापार की ओर जाता है।

यह व्यापार ईसा पूर्व तीसरी और दूसरी शताब्दियों में धीरे-धीरे बढ़ गया। इन साहसिक व्यवसायियों और व्यापारियों के बाद धर्म प्रचारकों का जाना शुरू हुआ होगा, क्योंकि यह समय अशोक के ठीक बाद का समय था। संस्कृत की प्राचीन कथाओं में खतरनाक समुद्री यात्राओं और जहाजों की तबाही के बहुत से विवरण मिलते हैं। यूनानी और अरबी दोनों वृत्तांतों से पता लगता है कि भारत और सुदूर पूरब के देशों के बीच कम-से-कम ईसा की पहली शताब्दी में नियमित समुद्री व्यापार होता था।

यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में जहाज़ बनाने का उद्योग बहुत विकसित और उन्नति पर था। उस समय में बनाए गए जहाज़ों का कुछ ब्यौरेवार वर्णन मिलता है। बहुत से भारतीय बंदरगाहों का उल्लेख मिलता है। दूसरी और तीसरी शताब्दी के दक्षिण भारतीय (आंध्र) सिक्कों पर दुहरे-पाल वाले जहाजों का चिह्न अंकित है। अजंता के भित्ति चित्रों में लंका-विजय और हाथियों को ले जाते हुए जहाजों के चित्र हैं।

महाद्वीप के देशों बर्मा, स्याम और हिंद-चीन पर चीन का प्रभाव अधिक था, टापुओं और मलय प्रायद्वीप पर भारत की छाप अधिक थी। आमतौर पर शासन-पद्धति और सामान्य जीवन-दर्शन चीन ने दिया और धर्म और कला भारत ने।

इन भारतीय उपनिवेशों का इतिहास तकरीबन तेरह सौ साल या इससे भी कुछ अधिक का है—ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी से आरंभ होकर पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तक।

विदेशों पर भारतीय कला का प्रभाव

भारतीय सभ्यता ने विशेष रूप से दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में अपनी

जड़ें जमाईं। इस बात का प्रमाण आज वहाँ सब जगह मिलता है, चंपा, अंङ्कोर, श्रीविजय, मज्जापहित और दूसरे स्थानों पर संस्कृत के बड़े-बड़े अध्ययन केंद्र थे। वहाँ जिन राज्यों का उदय हुआ उनके शासकों के नाम विशुद्ध भारतीय और संस्कृत नाम हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे विशुद्ध भारतीय थे, पर इसका अर्थ यह अवश्य है कि उनका भारतीयकरण किया गया था। राजकीय समारोह भारतीय ढंग से संस्कृत में संपन्न किए जाते थे। राज्य के सभी कर्मचारियों के पास संस्कृत की प्राचीन पदवियाँ थीं और इनमें से कुछ पदवियाँ और पदनाम न केवल थाईलैंड में बल्कि मलाया की मुस्लिम रियासतों में भी अभी तक चले आ रहे हैं। इंडोनीशिया के इन स्थानों के प्राचीन साहित्य भारतीय पुरा-कथाओं और गाथाओं से भरे पड़े हैं। जावा और बाली के मशहूर नृत्य भारत से लिए गए हैं। बाली के छोटे से टापू ने अपनी भारतीय संस्कृति को अभी तक बहुत सीमा तक कायम रखा है, यहाँ तक कि हिन्दू धर्म भी वहाँ चला आ रहा है। फिलिपीन द्वीपों में लेखन-कला भारत से ही गई है।

कंबोडिया में वर्णमाला दक्षिण भारत से ली गई है और बहुत से संस्कृत शब्दों को थोड़े से हेर-फेर के साथ ले लिया गया है। दीवानी और फौजदारी के कानून भारत के प्राचीन स्मृतिकार मनु के कानूनों के आधार पर बनाए गए हैं और इन्हें बौद्ध प्रभाव के कारण कुछ परिवर्तनों के साथ संहिताबद्ध करके कंबोडिया की आधुनिक कानून-व्यवस्था में ले लिया गया है।

लेकिन भारतीय प्रभाव सबसे अधिक प्रकट रूप से प्राचीन भारतीय बस्तियों की भव्य कला और वास्तुकला में दिखाई पड़ता है। मौलिक प्रेरणा का रूपांतरण हुआ, उसे स्थिति के अनुसार ढाला गया और स्थानीय प्रतिभा के साथ उसे मिलाया गया। इस मिश्रण से अंङ्कोर और बोरोबुदुर की इमारत और अद्‌भुत मंदिर तैयार हुए। जावा में बोरोबुदुर में बुद्ध की जीवन-कथा पत्थरों में उत्कीर्ण है। दूसरे स्थानों पर नक्काशी करके विष्णु, राम और कृष्ण की कथाएँ अंकित की गई

हैं। अंङ्कोर के बारे में ओल्बर्ट सिटवेल ने लिखा है -इस बात को तुरंत मान लेना चाहिए कि अंङ्कोर आज जिस रूप में खड़ा है, उसका स्थान संसार के मुख्य अजूबों में है। वह पत्थर में सिद्ध मानवीय प्रतिभा की आकांक्षा का शिखर है। चीन में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है उसकी तुलना में यह अत्यधिक प्रभावशाली, आकर्षक और अद्‌भुत है। ये उस सभ्यता के भौतिक अवशेष हैं जिसने छः सदियों तक अपने बेहद चमकीले पंख फड़फड़ाए और फिर इस तरह नष्ट हो गई, कि अब इंसान के होंठों से उसका नाम भी मिट गया।

अंङ्कोर वट के विशाल मंदिर के चारों तरफ विशाल खंडहरों का विस्तृत क्षेत्र है। उसमें बनावटी झीलें, पोखरें और नहरें हैं जिनके ऊपर पुल बने हैं और एक बहुत बड़ा फाटक है जिस पर, एक वृहदाकार सिर पत्थर में खुदा है। यह एक आकर्षक मुस्कराता हुआ किन्तु रहस्यमय कंबोडियाई चेहरा है गोकि शक्ति और सुंदरता में वह देवतुल्य है। इस चेहरे की मुस्कान अद्‌भुत रूप से मोहक और विचलित करने वाली है—इस अंङ्कोर मुस्कान को बार-बार दोहराया गया है। इस फाटक से मंदिर का रास्ता जाता है—पड़ोस का बायन संसार में सबसे कल्पनापूर्ण और बेजोड़ है। यह अंङ्कोर वट से अधिक आकर्षक है, क्योंकि इसकी कल्पना अधिक अलौकिक है। यह किसी सुदूर स्थित नक्षत्र के नगर का मंदिर जान पड़ता है—जिसकी सुंदरता उसी तरह दुर्ग्राह्य है जैसी किसी महान कविता की पंक्तियों के बीच अलिखित रूप से वर्तमान रहती है।

अंङ्कोर की प्रेरणा भारत से मिली पर उसका विकास ख्मेर प्रतिभा ने किया, या कि दोनों के परस्पर मेल से यह अजूबा पैदा हुआ। कंबोडिया के जिस राजा ने इसे बनवाया उसका नाम जयवर्मन (सप्तम) था, जो ठेठ भारतीय नाम है।

कुछ वर्ष पहले मुझे एक थाई (सियामी) विद्यार्थी ने पत्र लिखा। वह टैगोर के शांतिनिकेतन आया था और थाईलैंड लौट रहा था। उसने लिखा—मैं अपने आपको असामान्य रूप से भाग्यशाली समझता हूं कि मुझे इस महान् और प्राचीन

देश आर्यावर्त में आकर मातामही भारतभूमि के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर मिला। वह मातामही जिसकी ममतामयी गोद में मेरी मातृभूमि इतने प्रेम से पली और उसने संस्कृति और धर्म में जो कुछ भी उदात्त और सुंदर है उसे सराहना और उससे प्रेम करना सीखा। यह भावना भले ही पूरी तरह सबका प्रतिनिधित्व न करती हो लेकिन इससे भारत के प्रति आम भावना का कुछ अंदाज तो लगता ही है। गरचे यह भाव अस्पष्ट है और इसके साथ बहुत कुछ और मिला है लेकिन आज भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों में भारत के प्रति यही भावना है।

भारतीय कला का भारतीय धर्म और दर्शन से इतना गहरा रिश्ता है कि जब तक किसी को उन आदर्शों की जानकारी न हो जिनसे भारतीय मानस शासित होता है तब तक उसके लिए इसकी पूरी तरह सराहना संभव नहीं है। संगीत की ही तरह कला की पूर्वी और पश्चिमी अवधारणा के बीच भी एक खाई है जो दोनों को अलग करती है। यूरोप के मध्य-युग के महान कलाकार और निर्माता उन आधुनिक यूरोपीय कलाकारों की बनिस्बत जिन्होंने एक हद तक अपनी प्रेरणा पुनर्जागरण और उसके बाद के युग से हासिल की है, अपने को भारतीय कला और मूर्तिकला के अधिक मेल में पाते हैं, क्योंकि भारतीय कला में हमेशा एक धार्मिक प्रेरणा होती है, एक पार दृष्टि होती है, कुछ वैसी ही जिसने संभवतः यूरोप के महान गिरजाघरों के निर्माताओं को प्रेरित किया था। सौंदर्य की कल्पना आत्मनिष्ठ रूप में की गई है, वस्तुनिष्ठ रूप में नहीं; वह आत्मा से संबंध रखने वाली चीज़ है, भले ही वह रूप या पदार्थ में भी आकर्षक आकार ग्रहण कर ले। यूनानियों ने सौंदर्य से निस्वार्थ भाव से प्रेम किया। उन्हें सौंदर्य में केवल आनंद ही नहीं मिलता था, वे उसमें सत्य के दर्शन भी करते थे। प्राचीन भारतीय भी सौंदर्य से प्रेम करते थे, पर वे हमेशा अपनी रचनाओं में कोई गहरा अर्थ भरने का प्रयत्न करते थे—आंतरिक सत्य की कोई ऐसी झलक, जिसका साक्षात्कार

उन्होंने किया हो। उनकी रचनात्मक कृतियों के सर्वोत्तम उदाहरणों के प्रति हमारे मन में बरबस प्रशंसा का भाव उत्पन्न होता है, भले ही हम उनके उद्देश्य या उन्हें परिचालित करने वाले भावों को न समझ सकें।

भारतीय कविता और संगीत की तरह कला में भी कलाकार से यह उम्मीद की जाती थी कि वह प्रकृति की सभी मनोदशाओं से तादात्म्य स्थापित करे ताकि वह प्रकृति और विश्व के साथ मनुष्य के मूलभूत सामंजस्य की अभिव्यक्ति कर सके। अत्यधिक विविधता और राष्ट्रीय भिन्नताओं के इतने प्रकट होने के बावजूद यह सारी एशियाई कलाओं का मूल स्वर रहा है और इसी कारण एशिया की कला में हमें एक तरह की एकता दिखाई पड़ती है। अजंता के सुंदर भित्ति चित्रों के अलावा भारत में पुरानी चित्रकारी बहुत नहीं मिलती। शायद इसमें से बहुत सी नष्ट हो गई हैं। भारत की विशेषता उसकी मूर्त्तिकला और स्थापत्य में है, जिस तरह चीन और जापान की विशेषता उनकी चित्रकला में है।

भारतीय संगीत, जो यूरोपीय संगीत से इतना भिन्न है, अपने ढंग से बहुत विकसित था। इस दृष्टि से भारत का बहुत विशिष्ट स्थान है और संगीत के क्षेत्र में चीन और सुदूर पूर्व के अलावा उसने एशियाई संगीत को बहुत दूर तक प्रभावित किया था। इस तरह ही संगीत-ईरान, अफगानिस्तान, अरब, तुर्किस्तान के साथ, और कुछ दूर तक उन दूसरे क्षेत्रों के साथ जहां अरब सभ्यता फूली-फली, उदाहरण के लिए उत्तरी अफ्रीका के साथ संबंधों की एक और कड़ी बन गयी। इन सभी देशों में सम्भवतः भारतीय शास्त्रीय संगीत पसन्द किया जायेगा।

एशिया के दूसरे देशों की तरह भारत में भी कला के विकास पर, गढ़ी हुई मूर्तियों के विरुद्ध धार्मिक पूर्वाग्रह का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। वेद मूर्ति पूजा के विरुद्ध थे और बौद्ध धर्म में भी अपेक्षाकृत बाद के समय में ही बुद्ध की मूर्तियां और चित्र बनाए जा सके। मथुरा के संग्रहालय में बोधिसत्व की एक विशाल शक्तिशाली और प्रभावशाली पाषाण प्रतिमा है। इसका निर्माण ईसवी सन् के

आरम्भ के आस-पास कुषाण युग में हुआ था।

भारतीय कला अपने आरम्भिक काल में प्रकृतिवाद से भरी है, जो कुछ अंशों में चीनी प्रभाव के कारण हो सकता है। भारतीय कला के इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं पर चीनी प्रभाव दिखायी पड़ता है, विशेष रूप से इस प्रकृतिवाद के विकास पर। ठीक उसी तरह जैसे भारतीय आदर्शवाद ने चीन और जापान पहुंचकर उनके कुछ महान युगों में उन पर गहरा प्रभाव डाला।

चौथी से छठी शताब्दी ईसवी में गुप्तकाल के दौरान जिसे भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है, अजंता की गुफाएं खोदी गईं और उनमें भित्ति चित्र बनाए गए। बाग और बादामी की गुफाएं भी इसी काल की हैं। अजंता के ये भित्ति चित्र बहुत सुन्दर तो हैं ही और जबसे उनकी खोज हुई है उन्होंने हमारे आजकल के उन कलाकारों पर गहरा प्रभाव डाला है, जिन्होंने ज़िन्दगी में मुंह मोड़कर अपनी शैली को अजन्ता के आदर्श पर ढालने की कोशिश की, किन्तु परिणाम दुखद हुआ।

अजंता हमें किसी स्वप्न की तरह दूर किन्तु असल में एकदम वास्तविक दुनियां में ले जाती है। इन भित्ति चित्रों को बौद्ध भिक्षुओं ने बनाया था। बहुत समय पहले उनके स्वामी ने कहा था–स्त्रियों से दूर रहो, उनकी तरफ़ देखो भी नहीं, क्योंकि वे खतरनाक हैं। इसके बावजूद इन चित्रों में स्त्रियों की कमी नहीं है–सुन्दर स्त्रियां, राजकुमारियां, गायिकाएं, नर्तकियां, बैठी और खड़ी, शृंगार करती हुई या शोभा यात्रा में जाती हुई। अजंता की स्त्रियां मशहूर हो गई थीं। ये चित्रकार भिक्खु संसार को और जीवन के गतिशील नाटक को कितनी अच्छी तरह जानते थे; उन्होंने ये चित्र उतने प्रेम से बनाए हैं जितने प्रेम से उन्होंने बोधिसत्व को उनकी शांत, लोकोत्तर गरिमा में चित्रित किया है।

सातवीं आठवीं शताब्दियों में ठोस चट्टान को काटकर एलोरा की विशाल गुफाएं तैयार हुईं, जिनके बीच में कैलाश का विशाल मंदिर है। यह अनुमान

करना कठिन है कि इंसान ने इसकी कल्पना कैसे की होगी या कल्पना करने के बाद अपनी कल्पना को रूपाकार कैसे दिया होगा। एलीफेंटा की गुफाएँ भी इसी समय की हैं जहाँ प्रभावशाली और रहस्यमयी मूर्तियाँ बनी हैं। दक्षिण भारत में महाबलीपुरम की इमारतों का निर्माण भी इसी समय हुआ था।

एलिफेंटा की गुफाओं में नटराज शिव की एक खंडित मूर्ति है, जिसमें शिव नृत्य की मुद्रा में है। हेवेल का कहना है कि इस क्षत-विक्षत अवस्था में भी यह मूर्ति भीमाकार शक्ति का मूर्त रूप है और इसकी कल्पना अत्यन्त विशाल है। यद्यपि नृत्य की लयात्मक गति से चट्टान भी स्पंदित जान पड़ती है, किन्तु चेहरे पर वही सौम्यता, और निरावेग शांति दिखाई पड़ती है जिससे बुद्ध का चेहरा आलोकित रहता है।

ब्रिटिश संग्रहालय में नटराज शिव की एक और मूर्ति है और उसके बारे में एप्सटीन ने लिखा है कि "विश्व का सृजन और नाश करते हुए शिव नाचते हैं। उनकी विशाल लयात्मकता काल के विराट युगों का आह्वान करती है और उनकी गति में अखंड जादुई मंत्र शक्ति है।"

जावा में बोरोबुदूर से बोधिसत्व का एक सिर कोपेनहेगन के ग्लिपटोटेक ले जाया गया है। रूपगत सौंदर्य की दृष्टि से तो यह सिर सुंदर है ही किन्तु जैसा कि हेवेल ने कहा है, इसमें कुछ और गहरी बात है, जो बोधिसत्व की शुद्ध आत्मा को इसी तरह उद्घाटित करती है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। वह एक ऐसा चेहरा है, जिसमें समुद्र की गहराइयों की प्रशांति, निरभ्र नीले आकाश की स्वच्छता और इंसानी पहुँच से परे का परम सौंदर्य मूर्तिमान हुआ है।

भारत का विदेशी व्यापार

ईसवी सन् के पहले एक हज़ार वर्षों के दौरान, भारत का व्यापार दूर-दूर तक फैला हुआ था और बहुत से विदेशी बाज़ारों पर भारतीय व्यापारियों का

नियंत्रण था। पूर्वी समुद्र के देशों में तो उनका प्रभुत्व था ही, उधर वह भूमध्य सागर तक भी फैला हुआ था।

भारत में बहुत प्राचीन काल से कपड़ा तैयार होता रहा है, दूसरे देशों से बहुत पहले से। यहाँ कपड़े का उद्योग बहुत विकसित हो चुका था। भारतीय कपड़ा दूर-दूर के देशों में जाता था। रेशमी कपड़ा भी यहाँ काफ़ी समय से बनता रहा है। लेकिन वह शायद उतना अच्छा नहीं होता था जितना चीनी रेशम, जिसका आयात यहाँ ई० पू० चौथी शताब्दी से ही किया जाता था। भारतीय रेशम उद्योग ने बाद में विकास किया, लेकिन बहुत नहीं। कपड़े को रंगने की कला में उल्लेखनीय प्रगति हुई और पक्के रंग तैयार करने के खास तरीके खोज निकाले गए। इनमें से एक नील का रंग था, जिसे अंगेज़ी में **'इन्डिगो'** कहते हैं। यह शब्द इंडिया से बना है और अंग्रेज़ी में यूनान के माध्यम से आया है।

ईसवी सन की आरंभिक शताब्दियों में भारत में रसायनशास्त्र का विकास और देशों की तुलना में शायद अधिक हुआ था। इसके बारे में मुझे विशेष जानकारी नहीं है, लेकिन भारतीय रसायनशास्त्रियों और वैज्ञानिकों के प्रमुख सर पी.सी. राय ने, जिन्होंने भारतीय वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियों का प्रशिक्षण किया है, एक पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री" (हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास) लिखी है। उस समय रसायनशास्त्र कीमियागीरी और धातुशास्त्र से बहुत निकट रूप से संबद्ध था।

भारतीय, प्राचीन काल से ही फौलाद को ताव देना जानते थे। भारतीय फौलाद और लोहे की दूसरे देशों में बहुत कद्र की जाती थी, विशेष रूप से युद्ध के कामों में। भारतीयों को और बहुत-सी धातुओं की भी जानकारी थी और उनका इस्तेमाल किया जाता था। औषधियों के लिए धातुओं के मिश्रण तैयार किए जाते थे। आसव और भस्म बनाना ये लोग खूब जानते थे। औषध-विज्ञान

काफ़ी विकसित था। मध्य-युग तक प्रयोगों में काफ़ी विकास किया जा चुका था गरचे ये प्रयोग मुख्य रूप से प्राचीन ग्रंथों पर आधारित थे। शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन किया जाता था और हार्वे से बहुत पहले रक्त-संचार की बात सुझाई जा चुकी थी।

खगोल-शास्त्र, जो विज्ञानों में प्राचीनतम है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम का नियमित विषय था और फलित ज्योतिष को इससे मिला दिया जाता था। एक निश्चित पंचांग भी तैयार किया गया था जो अब भी प्रचलित है। यह सौर-पंचांग है जिसमें महीनों की गिनती चंद्रमा के आधार पर की जाती है। इस वजह से इसे समय-समय पर ठीक करना पड़ता है।

जो लोग समुद्री-यात्रा पर निकलते थे, उनके लिए खगोलशास्त्र का ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से बहुत सहायक होता था। खगोल-विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों को अपनी प्रगति पर गर्व था। उनका संपर्क अरबी खगोल शास्त्र से था जो अधिकतर सिकंदरिया पर आधारित था।

यह कहना कठिन है कि उस समय तक यंत्रों ने कितनी प्रगति की थी, लेकिन जहाज़ बनाने का उद्योग खूब चलता था। इसके अलावा, विशेष रूप से युद्ध में काम आने वाली तरह-तरह की मशीनों के हवाले भी मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भारत औज़ारों के निर्माण और प्रयोग में और रसायनशास्त्र और धातु-शास्त्र संबंधी जानकारी में किसी देश से पीछे नहीं था। इसी कारण उसे व्यापार के क्षेत्र में लाभ हुआ और कई सदियों तक वह कई विदेशी मंडियों को अपने वश में रख सका।

प्राचीन भारत में गणित-शास्त्र

प्राचीन भारतीय अत्यधिक बुद्धिमान और गूढ़ विषयों पर विचार करने वाले लोग थे, इसलिए उम्मीद की जाती है कि गणितशास्त्र में उन्होंने बहुत उन्नति की

लोगों। यूरोप ने आरंभ में अंक-गणित और बीज-गणित अरबी से सीखा। इसलिए उन्होंने "अरबी संख्याओं" के ही नामों को ग्रहण कर लिया। लेकिन अरबों ने खुद इन्हें पहले भारत से सीखा था। भारतीयों ने गणित में जो आश्चर्यजनक प्रगति की थी, वह अब बहुत प्रसिद्ध है, और यह माना जाता है कि आधुनिक अंक-गणित और बीज-गणित की नींव भारत में ही पड़ी थी। गिनती के चौखटे को इस्तेमाल करने की फूहड़ पद्धति और रोमन और उसी तरह की संख्याओं के इस्तेमाल ने बहुत समय तक प्रगति में बाधा दी, जबकि शून्यांक मिलाकर दस भारतीय संख्याओं ने मनुष्य की बुद्धि को इन बाधाओं से बहुत पहले मुक्त कर दिया था, और अंकों के व्यवहार पर अत्यधिक प्रकाश डाला था। ये अंक चिह्न बेजोड़ थे और दूसरे देशों में प्रयोग किए जाने वाले तमाम चिह्नों से एकदम भिन्न थे। अब वे काफी प्रचलित हैं और हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमें क्रांतिकारी विकास के बीज मौजूद हैं। उन्हें बग़दाद की राह से पश्चिमी दुनिया तक पहुँचने में कई सदियाँ लगीं।

भारत में ज्यामिति, अंक-गणित और बीजगणित का आरंभ बहुत प्राचीन काल में हुआ था। शायद आरंभ में वैदिक वेदियों पर आकृतियाँ बनाने के लिए एक तरह के ज्यामितीय बीज-गणित का प्रयोग किया जाता था। सबसे प्राचीन पुस्तकों में एक वर्गाकार को आयताकार में, जिसकी एक भुजा दी गई हो (अक्ष=स) बदलने की पद्धति का उल्लेख मिलता है। हिन्दू संस्कारों में ज्यामितिक आकृतियाँ अब भी आम तौर पर काम में लाई जाती हैं। भारत में ज्यामिति का विकास अवश्य हुआ पर इस क्षेत्र में यूनान और सिकंदरिया आगे बढ़ गए। अंक-गणित और बीज-गणित में भारत आगे बना रहा। दशमलव-स्थान की मूल्यव्यवस्था और शून्यांक के आविष्कारक या आविष्कारकों का पता नहीं है। अब तक की खोज के अनुसार शून्यांक का सबसे पहला प्रयोग लगभग 200 ईसा-पूर्व के एक धर्मग्रंथ में मिलता है। यह मुमकिन माना जाता है कि स्थान-मूल्य की व्यवस्था

का आविष्कार लगभग ई० सन् के आरंभ के आस-पास किया गया था। जिसे "शून्य" या "कुछ नहीं" कहा जाता है वह आरंभ में एक बिंदी या नुक्ते की तरह था। बाद में उसने एक छोटे वृत्त का रूप धारण कर लिया उसे किसी भी और अंक की तरह एक अंक समझा जाता था ।

शून्यांक और स्थान-मूल्य वाली दशमलव विधि को स्वीकार करने के बाद अंक-गणित और बीजगणित में तेज़ी से विकास करने की दिशा में कपाट खुल गए। बीज-गणित पर सबसे प्राचीन ग्रंथ ज्योतिर्विद आर्यभट्ट का है, जिनका जन्म 427 ई० में हुआ था। जब उन्होंने खगोल शास्त्र और गणित पर इस पुस्तक की रचना की, उनकी आयु केवल 23 वर्ष की थी। आर्यभट्ट ने, जिन्हें कभी-कभी बीज-गणित का आविष्कारक कहा जाता है, अपने पूर्ववर्ती लेखकों के कार्य से कम-से-कम आंशिक सहायता अवश्य ली होगी। भारतीय गणित-शास्त्र में अगला महत्त्वपूर्ण नाम भास्कर (522 ई०) का और उसके बाद ब्रह्मपुत्र (628 ई०) का है। ब्रह्मपुत्र प्रसिद्ध खगोलशास्त्री भी था जिसने शून्य पर लागू होने वाले नियम निश्चित किए और इस क्षेत्र में और अधिक उल्लेखनीय प्रगति की। इसके बाद अंक-गणित और बीज-गणित पर लिखने वाले गणितज्ञों की परंपरा मिलती है। इनमें अंतिम महान नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म 1114 ई० में हुआ था। उसने खगोल-शास्त्र, बीज-गणित और अंक-गणित पर क्रमशः तीन ग्रंथों की रचना की। अंक-गणित पर उनकी पुस्तक का नाम "लीलावती" है, जो स्त्री का नाम होने के कारण गणित की पुस्तक के लिए विचित्र लगता है। पुस्तक में बार-बार एक लड़की का हवाला मिलता है जिसे "हे लीलावती" कहकर संबोधित किया गया है और किसी समस्या को समझाया गया है। विश्वास किया जाता है कि लीलावती भास्कर की पुत्री थी गोकि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। पुस्तक की शैली सरल और स्पष्ट है और छोटी उम्र के लोगों की समझ के लिए उपयुक्त हैं। इस पुस्तक का संस्कृत विद्यालयों में अब भी कुछ हद तक अपनी

शैली के कारण इस्तेमाल किया जाता है।

आठवीं शताब्दी में खलीफा अल्मंसूर के राज्यकाल में (753-774) कई भारतीय विद्वान बगदाद गए, और अपने साथ वे जिन पुस्तकों को ले गए उनमें खगोलशास्त्र और गणित की पुस्तकें थीं। शायद इससे भी पहले, भारतीय संख्यांक बगदाद पहुँच चुके थे। लेकिन नियमित संपर्क शायद पहली बार हुआ, और आर्यभट्ट तथा कुछ अन्य ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया गया। इन्होंने अरबी जगत में गणितशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र के विकास को प्रभावित किया और वहाँ भारतीय अंक प्रचलित हुए। बगदाद उस समय विद्याध्ययन का बड़ा केंद्र था और यूनानी और यहूदी विद्वान वहाँ एकत्र हो कर अपने साथ यूनानी दर्शन, ज्यामिति और विज्ञान ले गए थे। मध्य एशिया से स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया पर बगदाद का सांस्कृतिक प्रभाव महसूस किया जा रहा था, और अरबी अनुवादों के माध्यम से भारतीय गणित का ज्ञान इस व्यापक क्षेत्र में फैल गया था। अरब इन अंकों को "हिन्दसा" कहते थे और अंकों के लिए अरबी शब्द "हिन्दसा" ही है जिसका अर्थ है हिंद से आया हुआ।

इस अरबी जगत से यह नया गणित, संभवतः स्पेन के मूर विश्वविद्यालयों के माध्यम से यूरोपीय देशों में पहुँचा, और इससे यूरोपीय गणित की नींव पड़ी। यूरोप में इन नए अंकों का विरोध हुआ क्योंकि वे काफिरों के चिह्न समझे जाते थे, और इनके आम तौर पर प्रचलन में कई सौ वर्ष लग गए। इनका सबसे पहला प्रयोग, जिसकी जानकारी मिलती है, 1134 में सिसली के एक सिक्के में हुआ। ब्रिटेन में इसका पहला प्रयोग 1490 में हुआ।

विकास और ह्रास

ईसवी सन् के पहले हज़ार वर्षों में, भारत में आक्रमणकारी तत्त्वों और आंतरिक झगड़ों के कारण बहुत उतार-चढ़ाव आए। फिर भी यह समय ऊर्जा से

उफनता और सभी दिशाओं में अपना प्रसार करते हुए कर्मठ राष्ट्रीय जीवन का समय रहा है। संस्कृति एक समृद्ध सभ्यता के रूप में विकसित होती दिखाई पड़ती है और दर्शन, साहित्य, नाटक आदि क्षेत्रों में फूलती-फलती है। भारतीय अर्थ व्यवस्था का प्रसार होता है, उसका क्षितिज और व्यापक होता है और दूसरे देश उसके प्रभाव क्षेत्र में आते हैं। ईरान, चीन, यूनानी जगत, मध्य एशिया से उसका संपर्क बढ़ता है और इस सबसे बढ़कर पूर्वी समुद्रों की ओर बढ़ने की शक्तिशाली प्रेरणा पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप भारतीय उपनिवेशों की स्थापना, और भारतीय सीमाओं को पार कर दूर-दूर तक भारतीय संस्कृति का प्रसार होता है। इन हज़ार वर्षों के बीच के समय में यानि चौथी शताब्दी के आरंभ से लेकर छठी शताब्दी तक गुप्त साम्राज्य समृद्ध होता है, और दूर दूर तक विस्तृत बौद्धिक और कलात्मक क्रियाकलाप का प्रतीक और संरक्षक बन जाता है। यह भारत का स्वर्ण युग कहलाता है। इस युग के साहित्य में, जो संस्कृत साहित्य की कालजयी रचनाएँ हैं, एक प्रकार की प्रशांति, आत्मविश्वास, और इस आत्माभिमान की दीप्ति दिखाई पड़ती है कि वे सभ्यता के उस प्रखर मध्याह्न काल में जीवित हैं। इसके साथ ही उनमें अपनी प्रबल बौद्धिक और कलात्मक शक्तियों के अधिकतम उपयोग की उमंग भी है।

लेकिन स्वर्ण-युग के समाप्त होने से पहले ही, कमज़ोरी और ह्रास के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। उत्तर-पश्चिम से गोरे हूणों के दल के दल आते हैं और बार-बार वापिस खदेड़ दिए जाते हैं। किंतु उनका आना जारी रहता है और धीरे-धीरे वे उत्तर-भारत में अपनी राह बना लेते हैं। आधी शताब्दी तक वे पूरे उत्तर में अपने को राज-सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। परंतु इसके बाद, अंतिम गुप्त सम्राट मध्य-भारत के एक शासक यशोवर्मन के साथ मिलकर, बहुत प्रयत्न करके हूणों को निकाल बाहर करता है।

इस लंबे संघर्ष ने भारत को राजनीतिक और सैनिक दोनों दृष्टियों से दुर्बल बना दिया और बड़ी संख्या में इन हूणों के उत्तर भारत में बस जाने के कारण

लोगों में धीरे-धीरे एक अंदरूनी परिवर्तन घटित हो गया। उन्हें उसी तरह आत्मसात कर लिया गया जैसे अब तक और सब विदेशी तत्त्वों को आत्मसात किया गया था। लेकिन उन्होंने अपना प्रभाव छोड़ा और भारतीय आर्य जातियों के प्राचीन आदर्श कमज़ोर पड़ गए। हूणों के पुराने वृतांत उनकी अत्यधिक कठोरता और बर्बर व्यवहार से भरे पड़े हैं। ऐसा व्यवहार जो युद्ध और शासन के भारतीय आदर्शों से एकदम भिन्न है।

सातवीं शताब्दी में हर्ष के शासन काल में, राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) जो गुप्त शासकों की शानदार राजधानी थी, फिर से कला और संस्कृति और एक शक्तिशाली साम्राज्य का केंद्र बनती है। लेकिन आने वाली सदियों में वह भी कमज़ोर पड़कर धीरे-धीरे खत्म हो जाती है। नवीं शताब्दी में गुजरात का मिहिर भोज उत्तर और मध्य भारत में छोटे राज्यों को मिलाकर एक संयुक्त राज्य कायम करके कन्नौज को अपनी राजधानी बनाता है। एक बार फिर साहित्यिक पुनर्जागरण होता है जिसके प्रमुख व्यक्तित्व राजशेखर हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में एक बार फिर, एक दूसरा भोज सामने आता है जो बहुत पराक्रमी और आकर्षक है, और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज बड़ा अद्भुत व्यक्ति था जिसने अनेक क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की। वह वैयाकरण और कोशकार था। साथ ही उसकी दिलचस्पी भेषज और खगोल-शास्त्र में थी। उसने इमारतों का निर्माण कराया, और कला और साहित्य का संरक्षण किया। वह स्वयं कवि और लेखक था जिसके नाम से कई रचनाएँ मिलती हैं। उसका नाम महानता, विद्वत्ता और उदारता के प्रतीक के रूप में लोक-कथाओं और किस्सों का हिस्सा बन गया है।

इन तमाम चमकदार टुकड़ों के बावजूद ऐसा लगता है कि एक भीतरी कमज़ोरी ने भारत को जकड़ रखा है, जिससे उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा ही नहीं, बल्कि उसके रचनात्मक क्रियाकलाप भी प्रभावित होते दिखाई पड़ते हैं। इसकी

कोई तिथि निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि यह प्रक्रिया बहुत धीमी गति से चलती रही और इसने दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत को जल्द प्रभावित किया। वस्तुतः राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से दक्षिण अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। शायद इसका कारण यह रहा हो कि दक्षिण आक्रमणकारियों के लगातार हमलों का मुकाबला करने के दबाव से बचा रहा; शायद उत्तर भारत की अनिश्चित स्थिति से बचाव के लिए बहुत से लेखक और कलाकार और वास्तु-शिल्पी दक्षिण में जाकर बस गए। दक्षिण के शक्तिशाली राज्यों, और उनके वैभवशाली दरबारों ने इन लोगों को आकर्षित किया होगा और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए ऐसा अवसर दिया होगा जो उन्हें दूसरी जगह नहीं मिला।

गरचे उत्तरी भारत पूरे भारत पर उस तरह हावी नहीं था जैसा प्रायः अतीत में होता रहा था, और वह छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, फिर भी जीवन वहाँ समृद्ध था और वहाँ कई केंद्र सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टि से सक्रिय थे। हमेशा की तरह बनारस धार्मिक और दार्शनिक विचारों का गढ़ था, और हर ऐसे व्यक्ति को जो कोई नया सिद्धांत प्रस्तुत करता था, या किसी प्राचीन सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करता था, अपने विचारों को न्यायसंगत ठहराने के लिए वहाँ आना पड़ता था। लंबे समय तक कश्मीर भी बौद्धों और ब्राह्मणों के संस्कृत-ज्ञान का बहुत बड़ा केंद्र रहा। भारत में बड़े-बड़े विश्वविद्यालय रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध नालंदा था, जिसके विद्वानों का पूरे भारत में आदर किया जाता था। नालंदा में शिक्षा पाने वाले पर संस्कृति की छाप लग जाती थी। उस विश्वविद्यालय में प्रवेश आसान नहीं था, क्योंकि प्रवेश उन्हीं को मिलता था जिन्होंने पहले ही एक स्तर तक योग्यता प्राप्त कर ली हो। इसने स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा देने की विशेषज्ञता प्राप्त की थी और यहाँ चीन, जापान और तिब्बत से विद्यार्थी आते थे, बल्कि यहाँ तक कहा जाता है कि कोरिया, मंगोलिया और बुखारा से भी। धार्मिक और दार्शनिक विषयों (बौद्ध और ब्राह्मण दोनों के अनुसार) के अलावा दूसरे

लौकिक और व्यावहारिक विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। कला और वास्तुशिल्प के विभाग थे; वैद्यक का विद्यालय था, कृषि विभाग था; डेरी फ़ार्म था और पशु थे। कहा जाता है कि यहाँ का बौद्धिक जीवन जीवंत वाद-विवादों और चर्चाओं का था। विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार ज़्यादातर नालंदा के विद्वानों ने किया है।

इसके अलावा बिहार में आजकल के भागलपुर के पास विक्रमशिला और काठियावाड़ में वल्लभी विश्वविद्यालय थे। गुप्त शासकों के समय में उज्जयिनी विश्वविद्यालय का उत्कर्ष हुआ। दक्षिण में अमरावती विश्वविद्यालय था।

फिर भी, ज्यों-ज्यों सहस्राब्दी समाप्ति पर आती है यह सब सभ्यता के तीसरे पहर जैसा लगने लगता है; सवेरे की आभा बहुत पहले क्षीण हो चुकी थी, और मध्याह्न भी बीत गया था। दक्षिण में अब भी तेजस्विता और शक्ति शेष थी और वह कुछ और शताब्दियों तक बनी रही; देश के बाहर भारतीय उपनिवेशों में पाँच सौ वर्ष तक उत्साही और भरी पूरी ज़िंदगी बनी रही। पर ऐसा लगता था जैसे हृदय स्तंभित हो चला हो, उसकी धड़कनें मंद होने लगी हों और धीरे-धीरे यह जड़ता और क्षय दूसरे अंगों में भी फैलता जा रहा हो। आठवीं शताब्दी में शंकर के बाद कोई महान दार्शनिक नहीं हुआ, हालाँकि टीकाकारों और तार्किकों की एक लंबी शृंखला मिलती है। शंकर भी दक्षिण भारतीय थे। मानसिक साहस की वृद्धि और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्कशास्त्र और अनुर्वर वाद-विवाद ले लेते हैं। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का ह्रास होने लगता है और पूजा के विकृत रूप सामने आने लगते हैं, विशेषकर तांत्रिक पूजा और योग-पद्धति के भ्रष्ट रूप।

साहित्य में, भवभूति (आठवीं शताब्दी) आखिरी बड़ा व्यक्ति था। बहुत-सी पुस्तकें इसके बाद भी लिखी जाती रहीं, किन्तु उनकी शैली अधिकाधिक जटिल और दुर्बोध होती गई, न उनमें विचारों की ताज़गी है न शैली की। गणित में

आखिरी बड़ा नाम भास्कर द्वितीय (बारहवीं शताब्दी) का है। कला में ई.वी. हैवेल हमें कुछ और आगे ले जाते हैं। वे कहते हैं कि सातवीं-आठवीं शताब्दियों तक कलात्मक अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम रूप प्राप्त नहीं हुआ था। यह वो समय था जब भारत की महान मूर्तिकला और चित्रकला के अधिकांश की रचना हुई थी। इनके अनुसार सातवीं या आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक भारतीय कला का महान युग था। यही समय यूरोप में गाथिक कला के चरम विकास का समय था। उन्होंने आगे कहा कि प्राचीन भारतीय कला की रचनात्मक प्रवृत्ति का क्षय स्पष्ट रूप से सोलहवीं शताब्दी में होने लगा। यह विचार कहाँ तक सही है मैं नहीं जानता, पर मेरा ख्याल है कला के क्षेत्र में भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत में ही पुरानी परंपरा ज्यादा लंबे समय तक कायम रही।

उपनिवेशों में बसने के लिए आख़िरी बड़ा दल दक्षिण से नवीं शताब्दी में गया था, लेकिन दक्षिण के चोलवंशी ग्यारहवीं शताब्दी में तब तक एक बड़ी समुद्री शक्ति बने रहे जब तक उन्हें श्रीविजय ने परास्त करके उन पर विजय नहीं प्राप्त कर ली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत नीरस होकर अपनी प्रतिभा और जीवन-शक्ति को खोता जा रहा था। यह प्रक्रिया बहुत धीमी थी और कई सदियों तक चलती रही। इसका आरंभ उत्तर में हुआ और अंत में यह दक्षिण पहुँच गई। इस राजनीतिक पतन और सांस्कृतिक गतिरोध के कारण क्या थे। क्या इसका एकमात्र कारण आयु थी, जो सभ्यताओं पर भी उसी तरह आक्रमण करती है जैसे व्यक्तियों पर; या फिर एक तरह का ज्वर था जिसमें आने वाली लहर की गति आगे बढ़कर पीछे लौटती है? या फिर इसके लिए बाहरी कारण और आक्रमण ज़िम्मेदार थे? राधाकृष्णन का कहना है कि भारतीय दर्शन ने अपनी शक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ खो दी।

ये सब बातें सच हैं क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता खो जाने से सांस्कृतिक

ह्रास अनिवार्य रूप से शुरू हो जाता है। लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता तभी छिनती है जब उसमें पहले किसी तरह का ह्रास शुरू हो जाता है। छोटा देश भले ही किसी ज़्यादा शक्तिशाली आक्रमणकारी के सामने झुक जाए, लेकिन भारत जैसा विशाल, अति विकसित और अत्यंत सभ्य देश वाह्य आक्रमण के सामने तभी हार मानेगा जब या तो भीतर से खुद पतनशील हो या आक्रमणकारी युद्धकौशल में उससे आगे हो। यह भीतरी ह्रास भारत में इन हज़ार वर्षों के अंत में बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

हर सभ्यता के जीवन में ह्रास और विघटन के दौर बार-बार आते हैं और भारत में इस तरह के दौर पहले आ चुके हैं। भारत ने उनसे बच कर नए सिरे से अपना कायाकल्प कर लिया। कभी-कभी वह कुछ समय के लिए अपने ही भीतर सिमट गया और फिर नई शक्ति बटोर कर सामने आया। उसमें एक ऐसा सक्रिय अंतस्तल रहा जो नए संपर्कों से अपने को हमेशा ताज़ा रूप देकर फिर से अपना विकास करता रहा—कुछ इस रूप में कि अतीत से भिन्न होकर भी उसके साथ गहरा संबंध बना रहा। अपने को समय के अनुसार ढाल लेने की उस क्षमता ने, मानस के उस लचीलेपन ने जिसके कारण अतीत में अनेक बार भारत का बचाव हुआ, क्या भारत को अब छोड़ दिया है? क्या उसके निश्चित विश्वासों ने और उसके सामाजिक ढाँचे की बढ़ती कट्टरता ने उसके मानस को इतना कठोर बना दिया है? क्योंकि अगर जीवन की गति और विकास रुक जाता है तो विचारों का विकास भी ठहर जाता है। भारत मे हमेशा से व्यवहार में रूढ़िवादिता और विचारों में विस्फोट का विचित्र संयोग रहा है।

लेकिन विचार ने जब अपनी विस्फोटकता और सर्जनात्मक शक्ति खो दी और वह घिसे-पिटे और निरर्थक व्यवहार का पालतू गुलाम बन गया, पुराने जुमले बुदबुदाने और हर नई बात से भयभीत रहने लगा, तब जीवन निष्क्रिय हो गया और बँधकर अपने ही बनाए कारागृह में बंदी होकर रह गया।

सभ्यताओं के ध्वस्त होने के हमारे सामने बहुत से उदाहरण हैं। इनमें सबसे उल्लेखनीय उदाहरण यूरोप की प्राचीन सभ्यता का है जिसका अंत रोम के पतन के साथ हुआ।

भारतीय सभ्यता का ऐसा नाटकीय अंत न उस समय हुआ और न बाद में, और जो कुछ घटित हुआ उसके बावजूद उसने अद्‌भुत दमदारी का परिचय दिया, किन्तु उत्तरोत्तर पतन साफ़ दिखाई पड़ता है। शायद यह भारतीय समाज-व्यवस्था के बढ़ते हुए कट्‌टरपन और गैरमिलनसारी का अनिवार्य परिणाम था जिसे यहाँ की जाति व्यवस्था प्रकट करती है। जहाँ भारतीय विदेश चले गए, जैसे दक्षिण पूर्वी एशिया में, वहाँ उनकी मानसिकता, रीति रिवाज और अर्थ-व्यवस्था किसी में इतना कट्‌टरपन दिखाई नहीं पड़ता साथ ही उन्हें विकास और विस्तार के अवसर सुलभ हुए। अगले चार-पाँच सौ वर्ष तक वे इन उपनिवेशों में फले-फूले और उन्होंने तेजस्विता और रचनात्मक शक्ति का परिचय दिया, स्वयं भारत में गैरमिलनसारी की भावना ने उनकी रचनात्मकता को नष्ट कर दिया और एक तंग दिल गुट और संकुचित दृष्टिकोण का विकास किया। जीवन इस तरह निश्चित चौखटों में बँट गया, जहाँ हर आदमी का धंधा स्थायी और नियत हो गया और दूसरों से उसका सरोकार बहुत कम रह गया। देश की सुरक्षा के लिए युद्ध करना क्षत्रियों का काम हो गया। दूसरे लोगों ने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली या उन्हें लेने नहीं दी गई। ब्राह्मण और क्षत्रिय वाणिज्य-व्यापार को नीची नज़र से देखते थे। नीची जाति वालों को शिक्षा और विकास के अवसरों से वंचित रखा गया, और उन्हें अपने से ऊँची जाति के लोगों के अधीन रहना सिखाया गया।

भारत के सामाजिक ढाँचे ने भारतीय सभ्यता को अद्‌भुत दृढ़ता दी थी। उसने गुटों को शक्ति दी और उन्हें एकजुट किया, लेकिन यह बात बृहत्तर एकता और विकास के लिए बाधक हुई। इसने दस्तकारी, शिल्प, वाणिज्य और व्यापार का विकास किया, लेकिन हमेशा अलग-अलग समुदायों के भीतर। इस तरह ख़ास

ढंग के धंधे पुश्तैनी बन गए और नए ढंग के कामों से बचने और पुरानी लकीर पीटते रहने की प्रवृत्ति पैदा हुई। इससे नई प्रेरणाओं और आविष्कारों में अवरोध आया। इसने सीमित दायरे के भीतर एक सीमा तक स्वतंत्रता अवश्य दी पर वृहत्तर स्वतंत्रता की कीमत पर। बड़ी संख्या में लोगों को विकास के अवसरों से वंचित करते हुए, उन्हें स्थायी रूप से समाज की सीढ़ी में नीचा दर्ज़ा देकर यह मूल्य चुकाया गया। जब तक यह व्यवस्था विकास और विस्तार के अवसर के मार्ग मुहैय्या करती रही, यह प्रगतिशील बनी रही, जब यह विकास की उस सीमा तक पहुंच गयी जहां तक इसके लिए संभव था, तब तक यह जड़ अप्रगतिशील और अन्ततः पतनोन्मुख हो चली।

इसी कारण हर तरफ ह्रास हुआ-विचारों में, दर्शन में, राजनीति में, युद्ध की पद्धति में, बाहरी दुनिया के बारे में जानकारी और उसके साथ संपर्क में। साथ ही क्षेत्रीयता के भाव बढ़ने लगे, भारत की अखंडता की अवधारणा के स्थान पर सामंतवाद और गिरोहबंदी की भावनाएं बढ़ने लगीं और अर्थ-व्यवस्था संकुचित हो गयी। लेकिन जैसा बाद में दिखायी पड़ा पुराने ढांचे में तब भी जीवनी-शक्ति और अद्‌भुत दृढ़ता बची हुई थी और इसके साथ एक सीमा तक लचीलापन, और अपने को ढालने की क्षमता। इसीलिए वह बचा रह सका, नए सम्पर्कों और विचारधाराओं का लाभ उठा सका, और कुछ दिशाओं में प्रगति भी कर सका। लेकिन यह प्रगति अतीत के बहुत से अवशेषों से जकड़ी रही और बाधित होती रही।

अध्याय 5

नयी समस्याएँ

अरब और मंगोल

जब हर्ष उत्तर-भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य के शासक थे और विद्वान चीनी यात्री हुआनत्सांग नालंदा में अध्ययन कर रहे थे, उसी समय अरब में इस्लाम अपना रूप ग्रहण कर रहा था। इस्लाम को एक धार्मिक और राजनीतिक ताकत के रूप में भारत में आकर बहुत-सी नई समस्याएँ खड़ी करनी थीं, पर यह बात ध्यान रखने की है कि भारतीय परिदृश्य को प्रभावित करने में उसे बहुत समय लगा। भारत के मध्य भाग तक पहुँचने में इसे लगभग 600 वर्ष लग गए और जब उसने राजनीतिक विजय के साथ भारत में प्रवेश किया, तब वह बहुत बदल चुका था, और उसके नेता दूसरे लोग थे। अरब वालों ने उत्साह के उन्माद में गत्यात्मक शक्ति के साथ फैलकर स्पेन से मंगोलिया की सीमा तक के सारे क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर ली। वे अपने साथ शानदार संस्कृति लेकर आए, पर वे खास भारत में नहीं आए। वे भारत के उत्तर-पश्चिमी कोर तक पहुँच कर वहीं रुक गए। अरब सभ्यता का क्रमशः पतन हुआ और मध्य तथा पश्चिमी एशिया में तुर्की जातियाँ आगे आईं। भारत के सीमावर्ती प्रदेश से यही तुर्क और अफगान इस्लाम को राजनीतिक शक्ति के रूप में भारत लाए।

कुछ तारीखों की सहायता से इन घटनाओं को ठीक-ठीक समझा जा सकता है। इस्लाम का आरंभ 622 ईस्वी में पैगंबर मुहम्मद की मक्का से मदीना की हिजरत से माना जा सकता है। मुहम्मद का देहांत दस वर्ष बाद हुआ। कुछ

समय उसे अरब में अपनी स्थिति मजबूत करने में लगा, और उसके बाद उन अद्भुत घटनाओं का सिलसिला शुरू हुआ जो इस्लाम का झंडा फहराते हुए अरबों को पूर्व में मध्य एशिया तक और पश्चिम में अफ्रीका के पूरे उत्तरी महाद्वीप को पार करते हुए स्पेन और फ्रांस तक ले गईं। सातवीं शताब्दी के दौरान और आठवीं शताब्दी के आरंभ तक वे इराक, ईरान और मध्य एशिया तक फैल गए थे। 712 ई० में उन्होंने भारत के उत्तर पश्चिम में सिंध पहुँचकर उस पर कब्जा कर लिया और वहीं ठहर गए। भारत के अधिक उपजाऊ इलाकों और इस क्षेत्र के बीच बहुत बड़ा रेगिस्तान पड़ता है।

अरबों ने बड़ी आसानी से दूर-दूर तक फैलकर तमाम इलाके फतह किए। पर भारत में वे तब भी, और बाद में भी सिंध से आगे नहीं बढ़े। क्या इसका कारण यह था कि भारत तब भी आक्रमणकारियों को रोकने के लिए काफी मजबूत था? शायद बात यही रही होगी वरना इस बात का कोई और समझ में आने वाला कारण नहीं मिलता कि सही मायने में आक्रमण होने में कई सदियाँ क्यों लगीं। किसी हद तक इसका कारण अरबों के आंतरिक झगड़े भी हो सकते हैं। सिंध बगदाद की केंद्रीय सत्ता से अलग होकर एक छोटा सा स्वतंत्र राज्य हो गया। हालाँकि आक्रमण नहीं हुआ, पर भारत और अरब के बीच संपर्क बढ़ने लगा। दोनों ओर से यात्रियों का आना जाना हुआ, राजदूतावासों की अदला-बदली हुई, भारतीय पुस्तकें–विशेषकर गणित और खगोलशास्त्र पर, बगदाद पहुँची और वहाँ अरबी में उनके अनुवाद हुए। बहुत से भारतीय चिकित्सक बगदाद गए। यह व्यापार और सांस्कृतिक संबंध उत्तर-भारत तक सीमित नहीं थे। भारत के दक्षिणी राज्यों ने भी उसमें हिस्सा लिया विशेषकर राष्ट्रकूटों ने जो भारत के पश्चिमी तट से व्यापार किया करते थे।

इस लगातार संपर्क के कारण भारतीयों को अनिवार्य रूप से इस नए धर्म इस्लाम की जानकारी हो गई। इस नए धर्म को फैलाने के लिए प्रचारक भी आए

और उनका स्वागत हुआ। मस्जिदें बनीं। न शासन ने इसका विरोध किया न जनता ने न कोई धार्मिक झगड़े हुए। सब धर्मों का आदर और पूजा के सभी तरीकों के प्रति सहनशीलता का व्यवहार करना भारत की प्राचीन परंपरा थी। अतः राजनीतिक ताकत के रूप में आने से कई शताब्दी पहले इस्लाम भारत में एक धर्म के रूप में आ गया था।

महमूद गज़नवी और अफगान

लगभग तीन सौ वर्ष तक भारत पर न कोई और आक्रमण हुआ न छापा मारा गया। 1000 ई० के आसपास अफगानिस्तान के सुलतान महमूद गज़नवी ने भारत पर आक्रमण करने आरंभ किए। महमूद गज़नवी तुर्क था जिसने मध्य एशिया में अपनी ताकत बढ़ा ली थी। उसने बड़ी निर्ममता से कई आक्रमण किए जिनमें बहुत खून-खराबा हुआ। हर बार महमूद अपने साथ बहुत बड़ा खज़ाना ले गया। हिन्दू धूलकणों की तरह चारों तरफ बिखर गए और उनकी याद भर लोगों के मुँह में पुराने किस्से की तरह बाकी रह गई। जो तितर-बितर होकर बच रहे उनके मन में सभी मुसलमानों के प्रति गहरी नफरत पैदा हो गई।

इस वर्णन से हमें इस बात का अनुमान लगता है कि महमूद ने कितनी तबाही की थी। फिर भी हमें यह याद रखना चाहिए कि महमूद ने उत्तरी भारत के सिर्फ एक टुकड़े को छुआ और लूटा था जो उसके धावे के रास्ते में पड़ा था। पूरा मध्य पूर्वी और दक्षिणी भारत उससे पूरी तरह बच गया था।

महमूद ने पंजाब और सिंध को अपने राज्य में मिला लिया। वह हर धावे के बाद गजनी लौट जाता था। वह कश्मीर पर विजय नहीं पा सका। यह पहाड़ी देश उसे रोकने और मार भगाने में सफल हो गया। काठियावाड़ में सोमनाथ से लौटते हुए राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में भी उसे भारी हार खानी पड़ी। इस आखिरी धावे के बाद वह फिर नहीं लौटा।

भारतीय इतिहास में महमूद के हमले एक बड़ी घटना हैं; हालाँकि पूरे भारत पर राजनीतिक दृष्टि से उनका बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा और भारत का केन्द्रीय भाग उससे अनछुआ रहा।

महमूद की मृत्यु 1030 ई. में हुई। उसकी मृत्यु के बाद 160 वर्षों से अधिक समय बीत गया। इस दौरान न तो भारत पर कोई आक्रमण हुआ और न ही पंजाब के आगे तुर्की शासन का विस्तार हुआ। इसके बाद शाहबुद्दीन गौरी नाम के एक अफ़गान ने गज़नी पर कब्ज़ा कर लिया और गजनवी साम्राज्य का अंत हो गया। उसने पहले लाहौर पर धावा किया और फिर दिल्ली पर। लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह पराजित कर दिया। शाहबुद्दीन अफ़गानिस्तान लौट गया और अगले साल एक और फौज लेकर लौटा। इस बार उसकी जीत हुई और 1192 ई. में वह दिल्ली के तख्त पर बैठा।

दिल्ली फतह करने का मतलब यह नहीं था कि बाकी भारत भी फतह हो गया। दक्षिण में चोला शासक अभी तक बहुत शक्तिशाली थे, और उनके अलावा दूसरे स्वतंत्र राज्य भी थे। अफ़गानों को दक्षिण भारत के बड़े हिस्से तक अपने शासन का विस्तार करने में डेढ़ शताब्दी और लगी। लेकिन इस नई व्यवस्था में दिल्ली का स्थान महत्त्वपूर्ण भी था और प्रतीकात्मक भी।

भारत पर महमूद गजनवी का आक्रमण निश्चित रूप से विदेशी तुर्क आक्रमण था और इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिए पंजाब बाकी भारत से अलग हो गया। बारहवीं शताब्दी के अंत में आने वाले अफ़गानों की बात कुछ और थी। ये हिन्द आर्य जाति के लोग थे और भारत की जनता से उनका निकट का संबंध था। दरअसल लंबे समय तक अफगानिस्तान भारत का हिस्सा हो कर रहा है, और ऐसा होना उसकी नियति थी।

पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह पराजित कर दिया। शाहबुद्दीन अफ़गानिस्तान लौट गया और अगले साल एक और फौज लेकर लौटा। इस बार उसकी जीत

हुई और 1192 में वह दिल्ली के तख्त पर बैठा।

दिल्ली फतह करने का मतलब यह नहीं था कि बाकि भारत भी फतह हो गया। दक्षिण में चोला शासक अभी तक बहुत शक्तिशाली थे, और उनके अलावा दूसरे स्वतंत्र राज्य भी थे। अफगानों को दक्षिण भारत के बड़े हिस्से तक अपने शासन का विस्तार करने में डेढ़ शताब्दी और लगी। लेकिन इस नयी व्यवस्था में दिल्ली का स्थान महत्त्वपूर्ण भी था और प्रतीकात्मक भी।

भारत पर महमूद गजनवी का आक्रमण निश्चित रूप से विदेशी तुर्क आक्रमण था और इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिए पंजाब बाकी भारत से अलग हो गया। बारहवीं शताब्दी के अंत में आने वाले अफगानों की बात कुछ और थी। वे हिन्द-आर्य जाति के लोग थे और भारत की जनता से उनका निकट का संबंध था। दरअसल लम्बे समय तक अफगानिस्तान भारत का हिस्सा होकर रहा है, और ऐसा होना उसकी नियति थी।

चौदहवीं शताब्दी के अंत में तुर्क या तुर्क-मंगोल तैमूर ने उत्तर की ओर से आकर दिल्ली की सल्तनत को ध्वस्त कर दिया। वह कुछ ही महीने भारत में रहा; वह दिल्ली आया और लौट गया। पर जिस रास्ते से वह आया उसी को उसने वीरान कर दिया। जिन लोगों को उसने कत्ल किया था उन्हीं की खोपड़ियों के मीनारों से वह रास्ते को सजाता चला गया। दिल्ली खुद मुर्दों का शहर बन गयी। सौभाग्य से वह बहुत आगे नहीं बढ़ा और पंजाब के कुछ हिस्सों और दिल्ली को ही यह भयानक विपत्ति झेलनी पड़ी।

दिल्ली को मौत की नींद से उठने में कई वर्ष लगे और जागने पर वह इस विशाल साम्राज्य की राजधानी नहीं रह गई थी। तैमूर के हमले में उसे साम्राज्य को तोड़ दिया था और उसके खंडहरों पर. दक्षिण में कई राज्य उठ खड़े हुए थे। इससे बहुत पहले, चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में, दो बड़े राज्य कायम हुए

थे–गुलबर्ग जो बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध है, और विजयनगर का हिन्दू राज्य।

तैमूर के दिल्ली को तबाह करने के बाद उत्तरी भारत कमज़ोर पड़ कर टुकड़ों में बँट गया। दक्षिण भारत की स्थिति बेहतर थी, और वहाँ के राज्यों में सबसे बड़ी और शक्तिशाली रियासत विजयनगर थी। इस रियासत और नगर ने उत्तर के बहुत से हिन्दू शरणार्थियों को आकर्षित किया। उस समय के उपलब्ध वृतांतों से ऐसा लगता है कि शहर बहुत समृद्ध और सुंदर था।

जब दक्षिण में विजयनगर तरक्की कर रहा था, उस समय दिल्ली की छोटी-सी सल्तनत को एक नए शत्रु का सामना करना पड़ा। उत्तर की पहाड़ियों से होकर एक और हमलावर दिल्ली के पास, पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में आया जहाँ अक्सर भारत के भाग्य का फैसला होता रहा है। उसने 1526 ई. में दिल्ली के सिंहासन को जीत लिया। यह बाबर था, जो तुर्क-मंगोल था और मध्य एशिया के तैमूर वंश का था। भारत में मुगल साम्राज्य की नींव उसी ने डाली।

समन्वय और मिली-जुली संस्कृति का विकास
परदा : कबीर, गुरु नानक, अमीर खुसरो

भारत पर मुस्लिम आक्रमण की या भारत में मुस्लिम युग की बात करना उतना ही गलत और भ्रामक है जितना अंग्रेजों के भारत में आने को ईसाई आक्रमण कहना या भारत में अंग्रेजों के समय को ईसाई युग कहना। इस्लाम ने भारत पर आक्रमण नहीं किया, वह भारत में कुछ सदियों के बाद आया। आक्रमण तुर्कों (महमूद का) ने किया था, अफ़गानों ने किया था, और उसके बाद तुर्क-मंगोल या मुगल आक्रमण हुआ। इनमें से बाद के दो आक्रमण महत्त्वपूर्ण थे। अफ़गानों को हम भारत का सीमावर्ती समुदाय कह सकते हैं, जो भारत के लिए शायद ही अजनबी माने जा सकते हैं। उनके राजनीतिक शासन के काल को

हिंद-अफ़गान युग कहना चाहिए। मुगल भारत के लिए बाहर के और अजनबी लोग थे, फिर भी वे भारतीय ढाँचे में बड़ी तेज़ी से समा गए और उन्होंने हिंद-मुगल युग की शुरुआत की।

चाहे अपनी मर्जी से या परिस्थिति के दबाव से या दोनों कारणों से अफ़गान शासक और जो लोग उनके साथ आए थे भारत में समा गए। उनके परिवारों का पूरी तरह भारतीयकरण हो गया और उनकी जड़ें भारत में जम गईं। भारत को वे अपना घर और बाकी सारी दुनिया को विदेश मानने लगे। राजनीतिक झगड़ों के बावजूद उन्हें सामान्यतः इसी रूप में स्वीकार कर लिया गया, और राजपूत राजाओं में से भी बहुतों ने उन्हें अपना अधिराज मान लिया। पर कुछ ऐसे राजपूत सरदार थे जिन्होंने उनकी अधीनता अस्वीकार कर दी और भयंकर झगड़े हुए। दिल्ली के एक प्रसिद्ध सुल्तान फिरोजशाह की माँ हिंदू थी; यही स्थिति गयासुद्दीन तुगलक की थी। अफगानी, तुर्की और हिंदू सामंतों के बीच विवाह होते तो थे पर आमतौर पर नहीं। दक्षिण में गुलबर्ग के मुस्लिम शासक ने विजयनगर की हिंदू राजकुमारी से बहुत धूमधाम से विवाह किया था।

एक कुशल प्रशासन का विकास हुआ, और यातायात के साधनों में विशेष रूप से सुधार हुआ—मुख्यतः सैनिक कारणों से। सरकार अब और अधिक केंद्रीकृत हो गई गरचे उसने इस बात का ध्यान रखा कि स्थानीय रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप न करे। शेरशाह (जिसने मुगल काल के आरंभ में हस्तक्षेप किया था) अफ़गान शासकों में सबसे योग्य था। उसने ऐसी मालगुज़ारी व्यवस्था की नींव डाली जिसका आगे चलकर अकबर ने विकास किया। अकबर के प्रसिद्ध राजस्व मंत्री टोडरमल की नियुक्ति पहले शेरशाह ने ही की थी। हिंदुओं की क्षमता का अफ़गान शासक अधिकाधिक उपयोग करते गए।

भारत और हिंदू धर्म पर अफ़गानों की विजय का दुहरा असर पड़ा। ये दोनों असर परस्पर विरोधी थे। तत्काल प्रभाव यह पड़ा कि लोग अफ़गान शासन

में पड़ने वाले क्षेत्रों से दूर भागकर दक्षिण की ओर चले गए। जो बच रहे वे अधिक कट्टर हो गए। अलग-थलग होकर अपने ही खोल में सिमट गए और विदेशी तौर-तरीकों और प्रभावों से अपने को बचाने के लिए उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को और कठोर बना दिया। दूसरी ओर विचारों और जीवन दोनों में इस विदेशी ढंग की ओर धीरे-धीरे अनायास लोगों का रुझान पैदा होने लगा। परिणामतः एक समन्वय अपने आप रूप लेने लगा, वास्तुकला की नई शैलियाँ उपजीं, खाना-पहनना बदल गया; और जीवन अनेक रूपों में प्रभावित हुआ और बदल गया। यह समन्वय संगीत में विशेष रूप से दिखाई पड़ा। भारत की प्राचीन शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हुए, उसने कई दिशाओं में विकास किया। फारसी भाषा दरबार की सरकारी भाषा बन गई और फारसी के बहुत से शब्द बोलचाल की भाषा में प्रवेश कर गए। इसके साथ ही साथ जन-भाषाओं का भी विकास किया गया।

भारत में जिन दुर्भाग्यपूर्ण बातों में वृद्धि हुई उनमें परदा प्रथा थी। ऐसा क्यों हुआ, यह स्पष्ट नहीं है लेकिन किसी-न-किसी रूप में यह पुराने लोगों पर नए आने वालों के पारस्परिक प्रभाव के परिणामस्वरूप घटित हुआ।

भारत में परदा प्रथा का विकास मुग़ल-काल में तब हुआ जब यह हिंदुओं और मुसलमानों दोनों में पद और आदर की निशानी समझा जाने लगा। औरतों को अलग परदे में रखने की यह प्रथा उन इलाकों में ऊँचे वर्गों में विशेष रूप से फैली जहाँ मुसलमानों का प्रभाव सबसे अधिक प्रकट था—यानी उस मध्य और विशाल पूर्वी प्रदेश में जिसमें दिल्ली, संयुक्त प्रांत, राजपूताना, बिहार और बंगाल आते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पंजाब और सरहदी सूबे में जो मुख्यतः मुस्लिम इलाके थे परदे की प्रथा उतनी कड़ी नहीं थी। दक्षिण और पश्चिमी भारत में कुछ हद तक मुसलमानों को छोड़कर परदे का रिवाज़ इस रूप में नहीं था।

दिल्ली में अफ़गानों के प्रतिष्ठित होने के साथ, पुराने और नए के बीच एक समन्वय अपने आप रूप ले रहा था। इनमें से अधिकतर परिवर्तन उच्च वर्गों में, अमीर उमरावों में हुए। इनका असर विशाल जन समूह पर, विशेषकर देहाती जनता पर नहीं पड़ा। उनकी शुरुआत दरबारी समाज में होती थी और वे शहरों और कस्बों में फैल जाते थे। इस तरह उत्तरी भारत में मिली-जुली संस्कृति का विकास करने की एक ऐसी प्रक्रिया शुरू हुई जो कई शताब्दियों तक चलती रही। दिल्ली और जिसे अब संयुक्त प्रांत कहा जाता है, इसके केंद्र बने, ठीक उसी तरह जैसे ये पुरानी आर्य संस्कृति का केंद्र रहे हैं और अब भी हैं। पर इस आर्य संस्कृति का एक बड़ा हिस्सा दक्षिण की ओर खिसक गया, जो हिंदू रुढ़िवादिता का गढ़ बन गया।

जब तैमूर के हमले से दिल्ली की सल्तनत कमज़ोर हो गई, तो जौनपुर (संयुक्त प्रांत में) एक छोटी-सी मुस्लिम रियासत खड़ी हुई। पूरी पंद्रहवीं शताब्दी के दौरान यह रिसायत कला, संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता का केंद्र रही।

विकसित होती हुई आम भाषा हिंदी को यहाँ प्रोत्साहित किया गया और हिंदुओं और मुसलमानों के धर्मों के बीच समन्वय करने तक का प्रयास भी किया गया। लगभग इसी समय उत्तर में सुदूर कश्मीर में एक स्वतंत्र मुस्लिम शासक जैनुलआबदीन को उसकी सहिष्णुता और संस्कृत के अध्ययन और प्राचीन संस्कृति को प्रोत्साहित करने के कारण बहुत यश मिला।

पूरे भारत में यह नई उत्तेजना सक्रिय थी और नए विचार लोगों को परेशान कर रहे थे। प्राचीन समय की तरह भारत के उपचेतन में इस नई परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया हो रही थी। वह विदेशी तत्त्वों को आत्मसात करने का प्रयास कर रहा था और इस प्रक्रिया में थोड़ा-बहुत खुद भी बदल रहा था। इसी उत्साह के बीच कुछ नए ढंग के सुधारक खड़े हुए जिन्होंने इस समन्वय का जानबूझ कर समर्थन किया और अक्सर वर्ण-व्यवस्था की निंदा या उपेक्षा की। पंद्रहवीं शताब्दी

में दक्षिण में हिंदू रामानंद और उनके उनसे भी अधिक प्रसिद्ध शिष्य कबीर हुए जो बनारस के मुसलमान जुलाहे थे। कबीर की साखियाँ और पद भी बहुत लोकप्रिय हुए और अब तक वैसे ही लोकप्रिय हैं। उत्तर में गुरु नानक हुए जो सिख-धर्म के संस्थापक माने जाते हैं। इन सुधारकों का प्रभाव उन पंथों की सीमा से कहीं व्यापक था जो इनके बाद कायम हुए। पूरे हिंदू धर्म पर इन नए विचारों का प्रभाव पड़ा और भारत में इस्लाम का स्वरूप भी दूसरे स्थानों पर उसके स्वरूप से किसी हद तक भिन्न हो गया। इस्लाम के घोर एकेश्वरवाद ने हिंदू धर्म को प्रभावित किया और हिंदुओं के अस्पष्ट बहुदेववाद का प्रभाव भारतीय मुसलमानों पर पड़ा। इनमें से अधिकतर भारतीय मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने धर्म-परिवर्तन किया था और उनका पालन-पोषण प्राचीन परंपराओं में हुआ था। और वे अब भी उन्ही से घिरे थे, उनमें बाहर से आने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफ़ीवाद, जिसकी जड़ें सम्भवतः नव्यप्लेटोवाद में थी, और विकसित हुआ।

विदेशी तत्त्वों के भारत में अधिकाधिक आत्मसात होने का सबसे महत्त्वपूर्ण संकेत, उनके द्वारा देश की आम भाषा का प्रयोग था, गरचे दरबार की भाषा फ़ारसी बनी रही। आरंभ के मुसलमानों ने हिंदी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। इन लेखकों में सबसे प्रसिद्ध अमीर ख़ुसरो थे। वे तुर्क थे और उनका परिवार दो या तीन पीढ़ियों से संयुक्त राज्य में बसा हुआ था। वे चौदहवीं शताब्दी के दौरान कई अफ़गान सुल्तानों के शासन काल में रहे। वे फारसी के चोटी के कवि थे और उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था। वे महान संगीतकार थे और उन्होंने भारतीय संगीत में कई मौलिक उद्‌भावनाएँ की थीं। कहा जाता है कि भारत के लोकप्रिय तंत्री वाद्य सितार का आविष्कार उन्होंने ही किया था। उन्होंने कई विषयों पर रचना की, भारत की विशेष रूप से प्रशंसा करते हुए उन्होंने उन बातों की परिगणना की जिनमें भारत ने विशेष प्रगति की थी। इनमें

धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र, भाषा और व्याकरण (संस्कृत) के अतिरिक्त संगीत, गणित, विज्ञान और आम का फल है।

भारत में उनकी प्रसिद्धि का आधार सबसे अधिक उनके लोकप्रचलित गीत हैं जिन्हें उन्होंने बोलचाल की सामान्य हिंदी में लिखा था। उन्होंने उस साहित्यिक माध्यम को न चुनकर बहुत बुद्धिमानी की जिसको केवल एक छोटी-सी मंडली के लोग समझ पाते। उन्होंने ग्रामीण जनता से केवल उसकी भाषा ही नहीं ली बल्कि उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढंग का भी वर्णन किया। उन्होंने विभिन्न ऋतुओं के गीत रचे। भारत की प्राचीन शास्त्रीय परंपरा के अनुसार हर ऋतु के अनुसार उसका अलग राग और बोल हैं, उन्होंने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गीत लिखे – दुल्हन के आने पर, प्रिय से बिछुड़ने पर, वर्षा ऋतु पर जब तपती धरती के गर्भ से नई ज़िंदगी फूट निकलती है। वे गीत अब भी दूर-दूर तक गाए जाते हैं और उत्तर और मध्य भारत के किसी भी गाँव या नगर में सुनाई पड़ सकते हैं। विशेष रूप से जब वर्षा ऋतु आरंभ होती और हर गाँव में आम या पीपल की डालों पर बड़े-बड़े झूले पड़ते हैं और गाँव के सभी लड़के लड़कियाँ इस अवसर को मनाने के लिए इकट्ठे होते हैं।

अमीर खुसरो ने अनगिनत पहेलियाँ भी लिखीं, जो बच्चों और बड़ों में समान रूप से बहुत लोकप्रिय हैं। अपने लंबे जीवन-काल में ही खुसरो अपने गीतों और पहेलियों के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गए थे। उनकी यह ख्याति बनी रही और बढ़ती रही। मुझे ऐसी कोई और मिसाल नहीं मिलती जहाँ छः सौ साल पहले लिखे गए गीतों की लोकप्रियता आम जनता के बीच बराबर बनी रही हो, और बोलों में बिना परिवर्तन किए वे अब भी उसी तरह गाए जाते हों।

बाबर और अकबरः भारतीयकरण की प्रक्रिया

अकबर भारत में मुगल खानदान का तीसरा शासक था, फिर भी साम्राज्य

की बुनियाद उसी ने पक्की की। उसके बाबा ने दिल्ली के सिंहासन पर 1526 ई. में विजय प्राप्त कर ली थी। भारत के लिए वह अजनबी था और हमेशा अपने को अजनबी ही समझता रहा। वह उत्तर से यहाँ आया था जहाँ उसके देश में मध्य एशिया में तैमूरिया नव-जागरण हो रहा था और कला और संस्कृति पर ईरानी प्रभाव प्रबल था। उसे वहाँ के दोस्ताना समाज का, बातचीत के आनंद का और जीवन की उन सुविधाओं और सुरुचिओं का अभाव महसूस होता था जो बगदाद से ईरान तक फैली थीं। उसे उत्तरी पहाड़ों के बर्फ़ानी मौसम की और फरगाना के अच्छे गोश्त और फलों की चाह बराबर सताती रही। फिर भी उसने यहाँ जो देखा उससे अपनी सारी निराशा के बावजूद, उसने कहा कि भारत एक बहुत बढ़िया देश है।

भारत में आने के चार वर्ष के भीतर ही बाबर की मृत्यु हो गई। उसका अधिकतर समय युद्ध में और आगरा में एक भव्य राजधानी बनाने में बीता। यह काम उसने कुस्तुंतुनिया के एक प्रसिद्ध वास्तु शिल्पी को बुलाकर कराया। कुस्तुंतुनिया में यह आलीशान सुलेमान का जमाना था जब उस शहर में शानदार इमारतें खड़ी हो रही थीं।

बाबर का व्यक्तित्व आकर्षक है, वह नई जागृति का शहज़ादा है, बहादुर और साहसी, जो कला और साहित्य और अच्छे रहन-सहन का शौकीन है। उसका पौत्र अकबर उससे भी अधिक आकर्षक और गुणवान है। वह बहादुर और दुस्साहसी है, योग्य सेनानायक है, और इस सबके बावजूद विनम्र और दयालु है, आदर्शवादी और स्वप्नदर्शी है, लेकिन साथ ही वह कर्मठ भी है और लोगों का ऐसा नेता है जो अपने अनुयायियों में तीव्र स्वामिभक्ति उत्पन्न कर सके। योद्धा के रूप में उसने भारत के बड़े हिस्सों को फतह कर लिया पर उसकी दृष्टि एक दूसरी और अधिक टिकाऊ विजय पर लगी थी वह लोगों के दिल और दिमाग पर विजय हासिल करना चाहता था। उसके दरबार के एक पुर्तगाली जेसुइट ने

हमें बताया है कि उसकी आँखें धूप में सागर की तरह झिलमिलाती हैं। अखंड भारत का पुराना सपना उसमें फिर आकार लेने लगा—ऐसा भारत जो केवल राजनीतिक दृष्टि से एक राज्य न हो बल्कि जिसकी जनता परस्पर सहज संबद्ध हो।

1556 ई. से आरंभ होने वाले अपने लंबे शासन के लगभग पचास वर्ष के दौरान वह बराबर इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए कोशिश करता रहा। ऐसे बहुत से स्वाभिमानी राजपूत सरदारों को जो किसी और के सामने नहीं झुकते उसने अपनी ओर मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमारी से शादी की। उसका बेटा और वारिस जहाँगीर इस तरह आधा मुगल और आधा हिंदू राजपूत था। जहाँगीर का बेटा शाहजहाँ भी राजपूत माँ का बेटा था। इसलिए यह तुर्क-मंगोल वंश, तुर्क या मंगोल होने की अपेक्षा कहीं अधिक भारतीय था।

अकबर राजपूतों का प्रशंसक था और उन्हें अपना संबंधी मानता था। उसने अपने विवाह-संबंध और दूसरी नीतियों से राजपूत राजघरानों से ऐसा संबंध बनाया जिससे उसका साम्राज्य बहुत मज़बूत हुआ। इस मुगल-राजपूत सहयोग ने, जो बाद के शासकों के शासन में भी इसी तरह चलता रहा, केवल सरकार, प्रशासन और सेना को ही नहीं, कला संस्कृति और रहन-सहन को भी प्रभावित किया। मुगल सामंत उत्तरोत्तर भारतीय होते गए और राजपूत और दूसरे लोग ईरानी संस्कृति से प्रभावित हुए।

अकबर ने बहुत से लोगों को जीत कर अपने पक्ष में कर लिया और वहीं बनाए रखा, लेकिन उसे राजपूताना में मेवाड़ के राणा प्रताप की अभिमानी और अदम्य आत्मा का दमन करने में सफलता नहीं मिली। राणा प्रताप ने एक ऐसे व्यक्ति से जिसे वह विदेशी विजेता समझता था केवल औपचारिक संबंध भी जोड़ने की बजाय जंगलों में मारे-मारे फिरना बेहतर समझा।

अकबर ने अपने चारों ओर अत्यंत प्रतिभाशाली लोगों का समुदाय .इकट्ठा

किया था जो उसके और उसके आदर्शों के प्रति समर्पित थे। इन लोगों में फ़ैजी और अबुलफ़ज़ल नाम के दो मशहूर भाई, बीरबल, राजा मानसिंह और अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना शामिल थे। उसका दरबार सब धर्मों के लोगों और उन लोगों के लिए जिनके पास कोई नए विचार थे मिलने की जगह था। सब धर्मों और मतों में उसका विश्वास इस हद तक था कि रूढ़िवादी मुसलमान उससे क्रुद्ध हो गए। उसने एक ऐसे नए समन्वित धर्म की शुरुआत करने का प्रयत्न किया जो सबको मान्य हो। उसी के शासन काल में उत्तर भारत में हिंदू और मुसलमानों के बीच सांस्कृतिक मेलजोल ने एक लंबा रास्ता तय किया। स्वयं अकबर निश्चित रूप से हिंदुओं में उतना ही लोकप्रिय था जितना मुसलमानों में। मुग़ल वंश भारत में मजबूती से इस तरह स्थापित हुआ जैसे वह भारत का अपना वंश हो।

यांत्रिक उन्नति और रचनात्मक शक्ति में एशिया और यूरोप के बीच अंतर

अकबर में चीजों के बारे में जानकारी हासिल करने की जिज्ञासा भरी रहती थी—आध्यात्मिक और भौतिक, दोनों तरह की बातों के बारे में। उसकी दिलचस्पी मशीनों के आविष्कारों और युद्ध-विज्ञान में थी। युद्ध के हाथियों की वह विशेष रूप से कद्र करता था, और वे उसकी सेना का खास अंग थे। उसके दरबार के पुर्तगाली जेसुइट बताते हैं कि, उसकी दिलचस्पी बहुत-सी बातों में थी और वह उन सबके बारे में जानकारी हासिल करना चाहता था। उसे सैनिक और राजनीतिक मामलों का पूरा ज्ञान तो था ही, साथ ही बहुत-सी यांत्रिक कलाओं का भी। ज्ञान हासिल करने की उत्सुकता में वह सभी बातों को एक साथ सीख लेना चाहता था, जैसे कोई भूखा व्यक्ति एक ही निवाले में खाना खा लेना चाहता हो।

फिर भी यह अजीब बात है कि उसकी जिज्ञासा एक बिंदु पर जाकर रुक गई और उसने उसे उन क्षेत्रों की छानबीन करने के लिए प्रेरित नहीं किया जो

उसके सामने खुले पड़े थे।

यदि अकबर के जिज्ञासु मन ने इस तरफ ध्यान दिया होता और पता लगाया होता कि संसार के दूसरे हिस्सों में क्या हो रहा है तो उसने सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद रख दी होती। लेकिन वह अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाने में व्यस्त था और उसके सामने बड़ी समस्या यह थी कि वह इस्लाम जैसे प्रचारवादी धर्म के साथ राष्ट्रीय धर्म और लोगों के रीति-रिवाजों का मेल कराके राष्ट्रीय एकता कैसे कायम करे। उसने धर्म की विवेक के साथ व्याख्या करने का प्रयत्न किया और एक बार तो ऐसा लगा जैसे उसने भारतीय परिदृश्य में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया हो। लेकिन यह सीधा हल यहाँ भी उसी तरह सफल नहीं हुआ जैसे और जगहों पर नहीं हुआ था।

इस तरह भारत की सामाजिक स्थिति में अकबर भी कोई बुनियादी अंतर पैदा नहीं कर सका और उसके बाद, परिवर्तन और दिमागी साहस की जो हवा बही थी वह भी मंद पड़ गई और भारत ने फिर अपना गतिहीन और अपरिवर्तनशील जीवन अपना लिया।

अकबर ने जो इमारत खड़ी की थी वह इतनी मज़बूत थी कि दुर्बल उत्तराधिकारियों के बावजूद वह सौ साल तक कायम रही। लगभग हर मुगल शासन-काल के बाद, सिंहासन के लिए शहज़ादों में युद्ध हुए, और इस तरह केंद्रीय शक्ति कमज़ोर पड़ती गई। पर दरबार का प्रताप बना रहा, और सारे एशिया और यूरोप में आलीशान मुगल बादशाहों का यश फैल गया। वास्तुकला के प्राचीन भारतीय आदर्शों के साथ एक नई सादगी और आभिजात्य के मेल से दिल्ली और आगरे में सुंदर इमारतें तैयार हुईं। यह भारतीय-मुगल कला दक्षिण और उत्तर में मंदिरों और दूसरी इमारतों की विस्तृत सजावट और अलंकरण की ह्रासोन्मुख शैली से एकदम भिन्न थी। प्रेरित वास्तुकारों और निर्माताओं ने आगरे में ताजमहल को मुहब्बत भरे हाथों से खड़ा किया।

उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों और इस्लाम का भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस टकराहट ने उन बुराइयों को खोलकर रख दिया जो हिंदू समाज में घर कर गई थीं। जात-पाँत की सड़ाँध, अछूत प्रथा, और अलग-अलग रहने की बेढब प्रवृत्ति। इस्लाम के भाईचारे और अपना मानने वालों के बीच बराबरी के सिद्धांतों का विशेषकर उन लोगों पर गहरा असर पड़ा जिन्हें हिंदू समाज में बराबरी का दर्ज़ा देने से इनकार कर दिया गया था। इस विचारधारात्मक टकराहट से कई आंदोलन उठ खड़े हुए जिनका उद्देश्य धार्मिक समन्वय करना था। बहुत से लोगों ने धर्म-परिवर्तन भी किया परंतु इनमें से अधिकतर लोग नीची जाति के थे, विशेषकर बंगाल में। ऊँची जाति के कुछ व्यक्तियों ने भी नए धर्म को स्वीकार किया। उन्होंने ऐसा या तो वास्तव में आस्था में परिवर्तन के कारण किया या फिर प्रायः राजनीतिक और आर्थिक कारणों से। शासकों के धर्म को अपनाने के स्पष्ट लाभ थे।

इस व्यापक धर्म-परिवर्तन के बावजूद हिंदू धर्म अपनी सारी विविधता के साथ देश का प्रधान धर्म बना रहा—ठोस, विशिष्ट, अपने में पूर्ण और आत्मविश्वासी। उच्च वर्ण के लोगों के मन में विचारों के क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता के बारे में कोई संदेह नहीं था और वे दर्शन और अध्यात्म विषयक समस्याओं के बारे में इस्लाम के दृष्टिकोण को अनगढ़ समझते थे। इस्लाम के एकेश्वरवाद को भी उन्हें अपने धर्म में अद्वैतवाद के साथ ढूँढ लिया था। अद्वैतवाद उनके अधिकांश दर्शन की बुनियाद था। हर व्यक्ति को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वह चाहे तो इन सिद्धांतों को चुन ले अथवा पूजा के और अधिक लोकप्रिय और सादे तरीकों को अपनाए।

यह बात ध्यान देने लायक है कि वर्गों का प्रभाव इस हद तक था कि नियमतः लोगों ने इस्लाम में धर्म-परिवर्तन सामूहिक रूप से किया। ऊँची जाति के लोगों में व्यक्ति कभी-कभार अकेले धर्म-परिवर्तन कर लेता था पर निम्न श्रेणी के

लोगों में मुहल्ले में एक जाति के लोग, या फिर लगभग सारा गाँव ही धर्म बदल लेता था। इसलिए उनका सामूहिक जीवन और काम-काज पहले की ही तरह चलते रहे। केवल पूजा के तरीकों आदि में छोटे-मोटे अंतर अवश्य आ गए। इस कारण आज हम देखते हैं कि कुछ विशेष पेशे और शिल्प ऐसे हैं जिन पर मुसलमानों का एकाधिकार है। इस तरह कपड़ा बुनने का काम मुख्यतः और ज्यादातर हिस्सों में पूरी तरह मुसलमान करते हैं। यही स्थिति जूते के व्यापारियों और कसाइयों की है। दर्ज़ी भी अक्सर मुसलमान ही होते हैं।

कश्मीर में इस्लाम में धर्म-परिवर्तन का लंबा सिलसिला चलता रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ की 95 प्रतिशत जनता आज मुसलमान है यद्यपि उन्होंने अपने बहुत से हिन्दू रीति-रिवाजों को कायम रखा। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में राज्य के हिंदू शासक ने यह पाया कि इनमें से बहुत बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे हिंदू धर्म में वापिस आने के लिए उत्सुक या तैयार हैं। उन्होंने बनारस के पंडितों के पास एक प्रतिनिधिमंडल भेजकर पुछवाया कि क्या ऐसा किया जा सकता है। पंडितों ने ऐसे धर्म-परिवर्तन का समर्थन नहीं किया और यह मामला वहीं खत्म हो गया।

भारत में जो मुसलमान बाहर से आए थे वे अपने साथ न कोई नई तकनीक लाए थे न ही राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा। इस्लाम में भाईचारे के धार्मिक विश्वास के बावजूद वे वर्गों में बंटे थे और उनका नज़रिया सामंती था। कारीगरी और औद्योगिक संगठन की दृष्टि से उस समय भारत में जो स्थिति थी, ये लोग उससे पिछड़े हुए थे। इसलिए भारत के आर्थिक जीवन और सामाजिक ढाँचे पर उनका प्रभाव बहुत कम पड़ा। यह जीवन पहले की ही तरह चलता रहा और सभी लोग, चाहे वे हिंदू या मुसलमान हों या कोई और उसमें यथास्थान फिट हो गए।

कुछ तो इस कारण कि भारत में रहने वाले अधिकतर मुसलमानों ने हिंदू

धर्म से धर्म परिवर्तन किया था, और कुछ लंबे संपर्क के कारण, भारत के हिंदुओं और मुसलमानों ने बहुत-सी समान विशेषताएँ, आदतें रहने-सहने के ढंग और कलात्मक रुचियाँ विकसित कीं। ऐसा विशेष रूप से उत्तर-भारत में संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, खाने-पहनने और समान परंपराओं के संदर्भ में हुआ। वे शांतिपूर्वक एक कौम के लोगों की तरह साथ-साथ रहा करते थे, एक-दूसरे के त्योहारों और जलसों में शरीक होते थे, एक ही भाषा बोलते थे, और बहुत कुछ एक ही तरह से रहते थे और एकदम एक जैसी आर्थिक समस्याओं का सामना करते थे।

यह तमाम आपसदारी और एक साथ रहना-सहना उस वर्ण-व्यवस्था के बावजूद हुआ जो ऐसे मेल-मिलाप में बाधक थी। एकाध उदाहरणों को छोड़कर आपस में शादी-ब्याह नहीं होते थे और जब ऐसा होता भी था तो दोनों पक्ष मिलकर एक नहीं होते थे, अक्सर हिंदू औरत मुस्लिम घराने की हो रहती थी। आपसी खान-पान भी नहीं होता था, पर इस मामले में बहुत कड़ाई नहीं बरती जाती थी। औरतों के परदे में अलग-थलग रहने से सामाजिक जीवन के विकास में रुकावट आई। यह बात मुसलमानों पर और भी अधिक लागू होती थी क्योंकि उनमें परदा ज्यादा कड़ा था। यद्यपि हिंदू और मुसलमान पुरुष वर्ग अक्सर एक-दूसरे से मिलता था लेकिन यह अवसर दोनों पक्षों की महिलाओं को सुलभ नहीं था। अमीर और ऊँचे वर्गों की महिलाएँ एक दूसरे से और भी अधिक कटी रहती थीं और उन्होंने एक दूसरे से बहुत कुछ अनजान रहते हुए अलग-अलग विचारों के दल बना लिए थे।

गाँव की आम जनता में, जिसका अर्थ है आबादी के बड़े हिस्से में जीवन का आधार मिला-जुला था और उनमें सामूहिकता कहीं अधिक थी। गाँव के सीमित घेरे के भीतर हिंदू और मुसलमानों के बीच गहरे संबंध थे। वर्ण-व्यवस्था से कोई बाधा नहीं होती थी और हिंदुओं ने मुसलमानों को भी एक जात मान

लिया था। अधिकतर मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने धर्म-परिवर्तन किया था, जिन्हें अपनी पुरानी परंपराएँ अब भी याद थीं। उन्हें हिंदुओं की पृष्ठभूमि, कथाओं और पुराणों की बहुत अच्छी जानकारी थी। वे उन्हीं की तरह का काम करते थे, एक-सा जीवन जीते थे, एक से कपड़े पहनते थे और एक ही भाषा बोलते थे। वे एक दूसरे के त्योहारों में शरीक होते थे, और कुछ अर्द्ध-धार्मिक से त्योहार दोनों के बीच समान रूप से मनाए जाते थे। उनके लोक-गीत भी एक ही थे। इनमें से ज़्यादातर लोग किसान और दस्तकार और शिल्पी थे।

मुगल शासन-काल के दौरान बहुत से हिंदुओं नें दरबार की भाषा फ़ारसी में पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ पुस्तकें अपने ढंग की रचनाओं में कालजयी रचनाएँ मानी जाती हैं। इसी समय मुसलमान विद्वानों ने फारसी में संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद किया और हिंदी में लिखा। हिंदी के सबसे प्रसिद्ध कवियों में दो हैं मलिक मोहम्मद जायसी जिन्होंने पद्मावत लिखा और अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना, जो अकबर-दरबार के अमीरों में थे और उनके संरक्षक के पुत्र थे। ख़ानख़ाना अरबी; फ़ारसी और संस्कृत तीनों भाषाओं के विद्वान थे और उनकी हिंदी कविता का स्तर बहुत ऊँचा था। कुछ समय तक वे शाही सेना के सिपहसालार रहे, फिर भी उन्होंने मेवाड़ के उन राणा प्रताप की प्रशंसा में लिखा जो बराबर अकबर से युद्ध करते रहे और उनके सामने कभी हथियार नहीं डाले। अकबर ने इसी बहादुरी और दोस्ती की बुनियाद पर अपनी नीति कायम की थी, जिसे उनके बहुत से सलाहकारों और मंत्रियों ने उनसे सीख लिया। राजपूतों से अकबर को विशेष लगाव था, क्योंकि वह उनके जिन गुणों की प्रशंसा करता था वे खुद उसमें भी थे—असीम साहस, आत्मसम्मान और बहादुरी—और वचनबद्धता। उसने राजपूतों को अपने साथ मिला लिया था, लेकिन अपने सारे प्रशंसनीय गुणों के बावजूद, राजपूत एक ऐसे मध्ययुगीन समाज का प्रतिनिधित्व करते थे, जो नई शक्तियों के

उदय के साथ पिछड़ रहा था। अकबर को भी इन नई शक्तियों का अहसास नहीं था, क्योंकि वह स्वयं अपनी सामाजिक विरासत में कैद था।

औरंगजेब ने उल्टी गंगा बहाई
हिन्दू राष्ट्रवाद का उदय : शिवाजी

औरंगजेब अपने वर्तमान समय को तो ठीक तरह समझ ही नहीं पाया, वह अपने से तत्काल-पूर्व के समय को भी नहीं समझ सका। वह समय के विपरीत चलने वाला था, और अपनी सारी योग्यता और उत्साह के बावजूद उसने अपने पूर्वजों के द्वारा किए गए कामों पर पानी फेरने का प्रयास किया। वह धर्मांध और कठोर नैतिकतावादी था। उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम नहीं था। हिंदुओं पर पुराना, घृणित जजिया कर लगाकर और उनके बहुत से मंदिरों को तुड़वाकर उसने अपनी प्रजा के बहुत बड़े हिस्से को नाराज़ कर दिया। उसने उन अभिमानी राजपूतों को भी नाराज़ कर दिया जो मुगल साम्राज्य के अवलंब और स्तंभ थे। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए। वे हिंदू और मुस्लिम विचारों का किसी हद तक समन्वय करने वाले शांतिप्रिय समुदाय के प्रतिनिधि थे जो दमन और अत्याचार के विरुद्ध एक सैनिक बिरादरी के रूप में संगठित हो गए। भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर उसने प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज लड़ाकू मराठों को क्रुद्ध कर दिया, ठीक ऐसे समय जब उनके बीच एक अद्भुत सेनानायक उठ खड़ा हुआ था।

मुगल साम्राज्य के दूर-दूर तक फैले क्षेत्रों में उत्तेजना फैल गई और पुनर्जागरणवादी विचार पनपने लगा जिसमें धर्म और राष्ट्रवाद का मेल था। वह आधुनिक युग का सा धर्म-निरपेक्ष ढंग का राष्ट्रवाद नहीं था, न ही इसकी व्याप्ति पूरे भारत में थी। इसमें सामंतवाद, क्षेत्रीय भावना और धार्मिक अनुभूति का रंग था। राजपूत जो बाकी लोगों की तुलना में अधिक सामंतवादी थे अपने वंश के प्रति निष्ठा का विचार करने लगे। सिख जो पंजाब में अपेक्षाकृत छोटा दल था

आत्मरक्षा में संलग्न थे और पंजाब के बाहर देख नहीं पाते थे। लेकिन धर्म की अपनी सुदृढ़ राष्ट्रीय पृष्ठभूमि थी और उसकी सभी परंपराएँ भारत से जुड़ी थीं।

धर्म और राष्ट्रीयता के इस मेल ने दोनों ही तत्त्वों से शक्ति और संवर्द्धना हासिल की, लेकिन उसकी कमज़ोरी भी इसी मेल से पैदा हुई थी। यह केवल खास किस्म की और आंशिक राष्ट्रीयता थी जिसमें धर्म के क्षेत्र से बाहर पड़ने वाले तमाम भारतीय तत्त्वों का समावेश नहीं था। हिंदू राष्ट्रवाद भारत की मिट्टी की स्वाभाविक उपज था, लेकिन यह अनिवार्यतः उस व्यापक राष्ट्रीयतावाद के मार्ग में बाधक था जो धर्म और जाति के भेदभाव से ऊपर उठ जाती है।

विशेषकर मराठों की अवधारणा व्यापक थी और जैसे-जैसे उनकी शक्ति बढ़ी उनके साथ इस अवधारणा का भी विकास हुआ। 1784 ई. में वारेन हेस्टिंग ने लिखा था; "हिंदोस्तान और दक्खिन के तमाम लोगों में से केवल मराठों के मन में राष्ट्र प्रेम की भावना है, जिसकी गहरी छाप राष्ट्र के हर व्यक्ति के मन पर है; यदि इस व्यापक देश पर कोई बड़ी विपत्ति आई, तो यह सामान्य मकसद संभवतः उनके सरदारों को एक कर देगा।" संभवतः उनकी यह राष्ट्रीय भावना अधिकतर मराठी-भाषी क्षेत्रों तक सीमित थी। फिर भी मराठे अपनी राजनीतिक और सैनिक व्यवस्था में और आदतों में उदार थे और उनके भीतर लोकतांत्रिक भावना थी। इससे उन्हें शक्ति मिलती थी। शिवाजी औरंगजेब से लड़ा जरूर पर उसने मुसलमानों को खुलकर नौकरियाँ दीं।

मुग़ल साम्राज्य के खंडित होने का और समान रूप से महत्त्वपूर्ण कारण आर्थिक ढाँचे का चरमराना था। किसान बार-बार विद्रोह करते थे, इनमें से कुछ आंदोलन बड़े पैमाने पर हुए थे। 1669 ई. के बाद जाट किसान जो राजधानी से बहुत दूर नहीं थे बार-बार दिल्ली सरकार के खिलाफ़ खड़े होते रहे। गरीब लोगों का एक और विद्रोह सतनामियों का था जिनके बारे में मुग़ल अमीर ने कहा था

"एक खूंखार कमीने विद्रोहियों का गिरोह है, जिसमें सुनार, बढ़ई, मेहतर, चमार, और दूसरे ऐसे ही नीच लोग शामिल हैं। अभी तक ऐसे विद्रोह राजाओं, अमीरों और ऊँचे तबके के दूसरे लोगों तक सीमित थे। अब एक बिल्कुल दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कर रहा है।"

उस समय जब साम्राज्य में फूट और बग़ावत फैली हुई थी, पश्चिमी भारत में नई मराठा शक्ति विकास कर रही थी और अपने को मज़बूत बना रही थी। शिवाजी, जिनका जन्म 1627 ई. में हुआ था, पहाड़ी इलाकों के सख्तजान लोगों के आदर्श छापामार नेता थे। उनके घुड़सवार दूर-दूर तक छापे मारते थे। उन्होंने सूरत को, जहां अंग्रेजों की कोठियाँ थीं लूटा, और मुगल साम्राज्य के दूर-दूर तक फैले क्षेत्रों पर चौथ कर लगाया। शिवाजी उभरती हुई हिंदू-राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। वे पुराने क्लासिकी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते थे, साहसी थे, और उनके नेतृत्व के बड़े गुण थे। उन्होंने मराठों को एक शक्तिशाली संगठित फ़ौजी दल का रूप दिया, उन्हें राष्ट्रीयतावादी पृष्ठभूमि प्रदान की और उन्हें एक ऐसी दुर्जेय शक्ति का रूप दिया जिसने मुगल साम्राज्य के टुकड़े कर दिए। 1680 ई. में उनकी मृत्यु हो गई, लेकिन मराठा शक्ति तब तक बढ़ती गई जब तक भारत पर उसका प्रभुत्व नहीं हो गया।

प्रभुत्व के लिए मराठों और अंग्रेजों के बीच संघर्षः अंग्रेजों की विजय

सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद 100 वर्ष तक भारत पर अधिकार करने के लिए बहुत जटिल और विविध रूपों में संघर्ष चलता रहा। अठारहवीं शताब्दी में भारत पर अधिकार के चार दावेदार थे : इनमें से दो भारतीय थे और दो विदेशी। भारतीय थे मराठे और दक्षिण में हैदरअली और उसका बेटा टीपू सुलतान, विदेशी थे फ्रांसीसी और अंग्रेज। सदी के पूर्वार्ध में यह लगभग निश्चित

जान पड़ता था कि मराठे पूरे भारतवर्ष पर अपनी हुकूमत कायम कर लेंगे और मुगल शासन के उत्तराधिकारी होंगे। सन् 1737 में ही उनकी सेनाएँ दिल्ली के दरवाज़े तक पहुँच गई और कोई शक्ति इतनी मजबूत नहीं रह गई थी कि उनका सामना कर सके।

ठीक उसी समय (1739) में उत्तर-पश्चिम में एक नया बवंडर उठ खड़ा हुआ और ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा। उसने बड़ी मार काट और लूटपाट मचाई और अपने साथ बेशुमार दौलत ले गया जिसमें प्रसिद्ध तख़्ते ताऊस भी था। उसे इस हमले में कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि दिल्ली के शासक कमज़ोर और नपुंसक हो चुके थे। वे लड़ाई के आदी नहीं रह गए थे और मराठों से नादिरशाह की टकराहट नहीं हुई। एक अर्थ में, उसके हमले से मराठों का काम आसान हो गया। वे बाद के वर्षों में पंजाब में भी फैल गए। एक बार फिर ऐसा लगा कि भारत मराठों के अधीन हो जाएगा।

नादिरशाह के आक्रमण के दो नतीजे हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुगल शासकों का अधिकार और राज्य का रहा सहा दावा भी ख़त्म हो गया। इसके बाद वे धुंधली परछाइयों की तरह नाम के हाकिम रह गए। जिस किसी के पास उन्हें नियंत्रित करने की शक्ति होती, वे उसी के हाथ की कठपुतली भर रह जाते। बहुत सीमा तक नादिरशाह के आने से पहले ही उनकी यह हालत हो चुकी थी। उसने इस प्रक्रिया को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और लंबे समय से चले आते रिवाजों का दबाव कुछ ऐसा होता है कि अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई से पहले तक उपहार और कर भेजते रहे, बाद में भी लंबे समय तक कंपनी अपने आपको दिल्ली के उस बादशाह का एजेंट समझती रही और उसी रूप में काम करती रही, जिसके नाम के सिक्के 1835 ई. तक चलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा परिणाम यह हुआ कि अफ़गानिस्तान भारत

से अलग हो गया। अफ़गानिस्तान जो बहुत लंबे समय से भारत का हिस्सा था, उससे कट कर अब नादिरशाह के राज्य का हिस्सा बन गया।

बंगाल में, जालसाज़ी और बगावत को बढ़ावा देकर, क्लाइव ने थोड़े से प्रयास से सन् 1757 में प्लासी का युद्ध जीत लिया; यह ऐसी तारीख है जिससे कभी-कभी भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य की शुरुआत मानी जाती है। इस बदमज़ा शुरुआत की कड़ुवाहट का कुछ-न-कुछ असर तब से बराबर बना रहा है। जल्दी पूरा बंगाल और बिहार अंग्रेजों के हाथ आ गया। इनके शासन की शुरुआत के साथ ही 1770 ई. में इन दोनों सूबों में भयंकर अकाल पड़ा जिससे इस घनी आबादी वाले समृद्ध, विस्तृत इलाके की एक तिहाई से अधिक आबादी नष्ट हो गई।

दक्षिण में, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष जो दोनों के बीच होने वाले विश्व-व्यापी युद्ध का ही एक हिस्सा था, अंग्रेजों की विजय में समाप्त हुआ, और भारत से फ्रांसीसियों का लगभग नामोंनिशान मिट गया।

फ्रांसीसियों के भारत से हट जाने के बाद तीन ताकतें बाकी रह गईं जो अधिकार के लिए संघर्ष कर रही थीं--मराठा संगठन, दक्षिण में हैदरअली और अंग्रेज। बावजूद इसके कि प्लासी में उनकी जीत हुई थी और वे बंगाल और बिहार में फैल गए थे, भारत में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी जो अंग्रेजों को ऐसी शक्ति के रूप में देखते हों जिसकी नियति में पूरे भारत पर राज्य करना हो। देखने वाला अब भी सबसे पहला स्थान मराठों को ही देता था, जो सारे पश्चिम और मध्य भारत में यहाँ तक कि दिल्ली तक फैले हुए थे और जिनका साहस और युद्ध करने की योग्यता प्रसिद्ध थी। हैदरअली और टीपू सुल्तान भी विकट विरोधी थे जिन्होंने अंग्रेजों को बुरी तरह हराया था और ईस्ट इंडिया कंपनी की शक्ति को लगभग खत्म कर दिया था। पर वे दक्षिण तक सीमित रहे और पूरे भारत की संपत्ति पर उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। हैदरअली एक

अदभुत व्यक्ति और भारतीय इतिहास का उल्लेखनीय व्यक्तित्व था। उसका आदर्श किसी हद तक राष्ट्रीय था और उसमें कल्पनाशील नेता के गुण थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को अंग्रेजों ने अंततः 1799 ई. में पराजित कर दिया और इस तरह मराठों और अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच आखिरी मुकाबले के लिए मैदान साफ़ हो गया।

लेकिन मराठा सरदारों के बीच आपसी वैर था, और अंग्रेजों ने उनसे अलग-अलग युद्ध करके उन्हें पराजित किया। उन्होंने कुछ उल्लेखनीय विजय हासिल कीं और विशेषकर 1804 ई. में आगरे के पास अंग्रेजों को बुरी तरह हराया, लेकिन 1818 ई. तक आते-आते मराठा शक्ति अंतिम रूप से कुचल दी गई, और उन बड़े सरदारों ने जो मध्य भारत में उनका प्रतिनिधित्व कर रहे थे ईस्ट इंडिया कंपनी की अधीनता स्वीकार कर ली। अंग्रेज इसके बाद भारत के अधिकांश भाग के निर्विरोध शासक हो गए, और वे देश पर सीधे या फिर कठपुतली जैसे अपने अधीनस्थ राजाओं के माध्यम से शासन करने लगे।

संगठन और तकनीकी में अंग्रेजों की श्रेष्ठता और भारतीयों का पिछड़ापन

हमें बार-बार याद दिलाया जाता है, ताकि हम भूल न जाएँ कि अंग्रेजों ने भारत को अव्यवस्था और अराजकता से बचाया। यह बात इस हद तक सही है कि उन्होंने उस युग के बाद जिसे मराठों ने 'आतंक का युग' कहा है, सुव्यवस्थित शासन कायम किया। लेकिन यह अव्यवस्था और अराजकता कम-से-कम कुछ दूर तक ईस्ट इंडिया कंपनी और भारत में उनके प्रतिनिधियों की नीति के कारण ही फैली थी। यह कल्पना भी की जा सकती है कि अंग्रेजों की सहायता के बिना भी, जो वे इतनी उत्सुकता से दिया करते थे, अधिकार कायम करने के लिए संघर्ष की समाप्ति के बाद शांति और व्यवस्थित शासन की स्थापना हो ही सकती

थी। भारत के 5000 वर्ष के इतिहास में, दूसरे देशों की तरह ऐसी स्थितियाँ पहले भी पैदा होती रही हैं।

रणजीत सिंह और जयसिंह

ऐसा लगता है कि आतंक के इस दौर में जनता सामान्यतः त्रस्त और पस्त थी। उसने अपने दुर्भाग्य के निर्णय के सामने बिना कोई प्रश्न पूछे स्तब्ध होकर निर्विरोध समर्पण कर दिया था। अनेक व्यक्ति ऐसे अवश्य रहे होंगे, जिनके मन में जिज्ञासा थी और जो उस समय सक्रिय नई शक्तियों को समझना चाहते होंगे लेकिन घटनाओं की बाढ़ ने उन्हें दबा दिया और उनका कोई प्रभाव न पड़ सका।

ऐसे व्यक्तियों में जिनमें जिज्ञासा भरी हुई थी महाराजा रणजीत सिंह थे। वे जाट सिख थे जिन्होंने पंजाब में अपना साम्राज्य कायम किया था। बाद में यह साम्राज्य कश्मीर और सरहदी सूबे तक फैल गया। उनकी अपनी कमज़ोरियाँ और दोष थे, फिर भी वह एक अद्‌भुत व्यक्ति था।

रणजीत सिंह केवल बौद्धिक स्तर पर जिज्ञासु नहीं था, वह ऐसे समय में जब भारत और विश्व में निर्ममता और अमानवीयता छाई थी, अद्‌भुत रूप से मानवीय था। उसने एक राज्य और शक्तिशाली सेना का निर्माण किया, फिर भी वह खून-खराबा पसंद नहीं करता था। प्रिंसेप ने लिखा है: "किसी अकेले आदमी ने कभी इतने बड़े साम्राज्य का निर्माण इतनी कम अपराधिता से नहीं किया।" ऐसे समय में जब इंग्लैंड में छोटे-मोटे चोर-उचक्कों को भी मौत की सज़ा भोगनी पड़ती थी, उसने मौत की सजा बंद कर दी, चाहे जुर्म कितना बड़ा हो। आसबॉर्न ने, जो उससे मिलने आया था लिखा है "युद्ध के सिवाय, उसने कभी किसी की जान नहीं ली, गरचे उसकी जान लेने की कोशिश एकाधिक बार की गई। उसका शासन बहुत से ज्यादा सभ्य शासकों के मुकाबले निर्दयता और दमन के कर्मों से

अधिक मुक्त था।"

एक दूसरा पर कुछ और ही ढंग का भारतीय राजनेता राजपूताने में जयपुर का सवाई जयसिंह था। उसका समय कुछ और पहले था और उसकी मृत्यु 1743 ई. में हुई थी। वह औरंगजेब की मृत्यु के बाद होने वाली उथल-पुथल के समय हुआ था। वह इतना चतुर और अवसरवादी था कि एक के बाद एक लगने वाले धक्कों और परिवर्तनों के बावजूद बचा रहा।

वह बहादुर योद्धा और कुशल राजनयिक था, लेकिन वह इससे कहीं बढ़कर था। वह गणितज्ञ, खगोल विज्ञानी, और नगर-निर्माण करने वाला था और उसकी दिलचस्पी इतिहास के अध्ययन में थी।

जयसिंह ने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा में बड़ी-बड़ी वेधशालाएँ बनाईं। पुर्तगाली पादरियों से खगोलशास्त्र की प्रगति की जानकारी मिलने पर उसने एक पादरी के साथ अपने आदमियों को पुर्तगाल के राजा इमानुएल के दरबार में भेजा। इमानुएल ने अपने दूत जेवियर द सिल्वा को द ला हायर की तालिकाओं के साथ जयसिंह के पास भेजा। अपनी तालिकाओं के साथ उनकी तुलना करने पर जयसिंह इस नतीजे पर पहुँचा कि पुर्तगाली तालिकाएँ कम सुनिश्चित थीं और उनमें कई गलतियाँ थीं। इन गलतियों का कारण उसने यह बताया कि जिन यंत्रों का प्रयोग किया गया था उनके व्यास घटिया थे।

उसने जयपुर नगर बसाया। नगर-निर्माण में दिलचस्पी होने के कारण उसने उस समय के कई यूरोपीय नगरों के नक्शे इकट्ठे किए और फिर अपना नक्शा खुद बनाया। उस समय के इन पुराने यूरोपीय नगरों के कई नक्शे जयपुर के अजायबघर में सुरक्षित हैं। जयपुर नगर की योजना इतनी अच्छी और इतनी समझदारी से बनाई गई थी कि अब भी उसे नगर-निर्माण का आदर्श समझा जाता है।

लगातार युद्धों और दरबारी षड्यंत्रों के बीच अक्सर खुद उलझे रहने पर भी अपने अपेक्षाकृत छोटे से जीवन काल में जयसिंह ने यह तो किया ही, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ किया। जयसिंह की मृत्यु के केवल चार वर्ष पहले नादिरशाह का आक्रमण हुआ। जयसिंह चाहे जिस समय और चाहे जहाँ हुआ होता वह अद्भुत व्यक्ति होता। भारतीय इतिहास के सबसे अधिक अंधकारमय युग में जब उथल-पुथल, युद्ध और उपद्रवों से माहौल भरा था राजपूताना के ठेठ सामंती वातावरण में उसने वैज्ञानिक की तरह उठकर काम किया, यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे यह साबित होता है कि वैज्ञानिक खोज की चेतना भारत में लुप्त नहीं हुई थी और एक ऐसी उत्तेजना सक्रिय थी कि यदि उसे फैलने का अवसर दिया जाता तो बहुत मूल्यवान नतीजे सामने आते।

भारत की आर्थिक पृष्ठभूमिः इंग्लैंड के दो रूप

अपने आरंभिक दिनों में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य काम था भारतीय माल लेकर यूरोप में व्यापार करना और यह व्यापार बहुत लाभदायक था। कंपनी को इससे बहुत लाभ हुआ। भारत में उत्पादन की पद्धतियाँ इतनी कुशल और अत्यधिक व्यवस्थित थीं और भारतीय कारीगरों और शिल्पियों की कारीगरी इस स्तर की थी कि वे इंग्लैंड में उस समय कायम किए गए उत्पादन के उच्चतर तकनीकों का बड़ी सफलता से मुकाबला कर सकते थे। जब इंग्लैंड में मशीनों का युग शुरू हुआ, उस समय भी भारतीय वस्तुएँ इतनी बहुतायत से वहाँ भरी रहती थीं कि भारी चुंगी लगाकर और कुछ चीज़ों का आना तो कतई बंद करके उन्हें रोकना पड़ा।

यह बात स्पष्ट है कि औद्योगीकरण से पूर्व भारत का अर्थ-तंत्र चाहे जितना व्यवस्थित और विकसित रहा हो वह बहुत दिनों तक उन देशों के माल से

मुकाबला नहीं कर सकता था जिनका औद्योगीकरण हो चुका था। उसके लिए आवश्यक हो गया कि या तो वह अपने यहाँ कल-कारखाने लगाए या विदेशी आर्थिक घुस-पैंठ के सामने समर्पण करे जिसका आगे परिणाम होता राजनीतिक हस्तक्षेप। हुआ यह कि विदेशी राजनीतिक हुकूमत यहाँ पहले आई और उसने बड़ी तेज़ी से उस अर्थ-तंत्र को नष्ट कर दिया, जिसे भारत ने खड़ा किया था और उसकी जगह कोई निश्चित और रचनात्मक चीज़ सामने नहीं आई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अंग्रेजों की राजनीतिक शक्ति, निहित स्वार्थ और आर्थिक शक्ति दोनों का प्रतिनिधित्व किया। वह सर्वशक्तिमान थी, और चूँकि वह व्यापारियों की कंपनी थी इसलिए वह धन कमाने पर तुली हुई थी। ठीक उस समय जब वह आश्चर्यजनक तेज़ी से अपार धन कमा रही थी। एडम स्मिथ ने सन् 1776 में 'द वैल्थ ऑफ़ नेशन्स' में इसके बारे में लिखा : "एकमात्र व्यापारियों की कंपनी की सरकार किसी भी देश के लिए सबसे बुरी सरकार है।

इंग्लैंड का भारत में आगमन हुआ। जब 1600 ई. में रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को परवाना दिया, उस समय शेक्सपीयर जीवित था, और लिख रहा था। 1611 ई. में बाइबिल का अनुमोदित अंग्रेजी अनुवाद जारी हुआ, 1608 ई. में मिल्टन का जन्म हुआ। उसके बाद हैम्पडेन और क्रॉमवेल सामने आए और राजनीतिक क्रांति हुई। 1660 ई. में इंग्लैंड की रायल सोसाइटी की स्थापना हुई, जिसने विज्ञान की प्रगति में बहुत हिस्सा लिया। सौ साल बाद कपड़ा बुनने की तेज़ ढरकी का आविष्कार हुआ और उसके बाद तेज़ी से एक-एक करके कातने की कला, इंजन और मशीन के करघे निकले।

इन दो में से भारत कौन-सा इंग्लैंड आया? शेक्सपीयर और मिल्टन वाला, शालीन बातों और लेखन और बहादुरी के कारनामों वाला, राजनीतिक क्रांति और स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाला, विज्ञान और तकनीक में प्रगति करने वाला

इंग्लैंड या फिर बर्बर-दंड संहिता और नृशंस व्यवहार वाला, वह इंग्लैण्ड जो सामंतवाद और प्रतिक्रियावाद से घिरा हुआ था? क्योंकि ये दो इंग्लैंड थे, ठीक वैसे ही जैसे हर देश में राष्ट्रीय चरित्र और सभ्यता के ये दो पहलू होते हैं। एडवर्ड थॉम्पसन ने लिखा है कि "इंग्लैंड में हमारी सभ्यता के उच्चतम और सामान्य स्तरों के बीच हमेशा बहुत बड़ा अंतर रहा है; मुझे संदेह है कि किसी भी और देश में जिससे हम अपनी तुलना करना चाहेंगे स्थिति ऐसी ही होगी और यह अंतर जितनी धीमी गति से घट रहा है, उससे अक्सर ऐसा लगता है कि यह घट ही नहीं रहा।

ये इंग्लैंड एक दूसरे को प्रभावित करते हुए साथ-साथ चल रहे हैं और इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। फिर भी हर बड़े काम में एक आगे आता है और दूसरे पर हावी हो जाता है; और यह अनिवार्य हो जाता है कि ग़लत इंग्लैंड भारत में वह भूमिका अदा करे और इस प्रक्रिया में ग़लत भारत के संपर्क में आए और उसे बढ़ावा दे।

संयुक्त राज्य अमरीका के स्वतंत्र होने का समय लगभग वही है जो भारत के स्वतंत्रता खोने का समय है। पिछली डेढ़ शताब्दी का सर्वेक्षण करें तो एक भारतीय संयुक्त राज्य अमरीका में इस दौरान हुई व्यापक प्रगति की ओर उत्कंठा और लालसा से भरी दृष्टि से देखता है और उसके अपने देश में जो हुआ है और जो नहीं हो सका है उससे उसकी तुलना करता है। निस्संदेह सच है कि अमरीकियों में बहुत से गुण हैं और हममें बहुत सी कमज़ोरियाँ हैं। यह भी सच है कि अमरीका ने नई शुरुआत के लिए बिल्कुल अनछुआ और साफ़ मैदान प्रस्तुत किया था जबकि हम प्राचीन स्मृतियों और परंपराओं से जकड़े हुए थे। फिर भी यह बात शायद कल्पनातीत नहीं है कि यदि ब्रिटेन ने भारत में यह बहुत भारी बोझ नहीं उठाया होता (जैसा कि उन्होंने हमें बताया है) और लंबे

समय तक हमें स्वराज्य करने की वह कठिन कला नहीं सिखाई होती, जिससे हम इतने अनजान थे, तो भारत न केवल अधिक स्वतंत्र और अधिक समृद्ध होता, बल्कि विज्ञान और कला के क्षेत्र में और उन सभी बातों में जो जीवन को जीने योग्य बनाती हैं, उसने कहीं अधिक प्रगति की होती।

अध्याय 6

अंतिम दौर (1)

भारत राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता है

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना उसके लिए एकदम नई घटना थी जिसकी तुलना किसी और हमले या राजनीतिक अथवा आर्थिक परिवर्तन से नहीं की जा सकती थी। भारत पहले भी जीता जा चुका था, लेकिन उन आक्रमणकारियों द्वारा जो उसकी सीमाओं में आकर बस गए, और अपने को भारत के जीवन में शामिल कर लिया (उसी तरह जैसे इंग्लैंड में नार्मन लोगों ने और चीन में मंचू लोगों ने किया था)। उसने अपनी स्वाधीनता कभी नहीं खोई थी और वह कभी गुलाम नहीं बना था। कहने का आशय यह है कि भारत कभी ऐसी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में नहीं बंधा था जिसका संचालन-केंद्र उसकी धरती से बाहर हो। वह कभी ऐसे शासक वर्ग के अधीन नहीं रहा जो अपने मूल और चरित्र दोनों में स्थायी रूप से विदेशी था।

नया पूंजीवाद सारे विश्व में जो बाज़ार तैयार कर रहा था उससे हर सूरत में भारत के आर्थिक ढांचे पर प्रभाव पड़ना ही था। परंपरागत श्रम-विभाजन वाला आत्म-निर्भर ग्राम समाज, अब अपने उस पुराने रूप में बचा नहीं रह सकता था। लेकिन जो परिवर्तन हुआ वह स्वाभाविक नहीं था और उसने भारतीय समाज के पूरे आर्थिक और संरचनात्मक आधार को विघटित कर दिया। एक ऐसी व्यवस्था

जिसके पीछे सामाजिक अनुमति और नियंत्रण था और जो जनता की सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा थी सहसा और जबरन एक दूसरे किस्म की व्यवस्था में बदल दी गई और एक दूसरी व्यवस्था जिसका संचालन बाहर से होता था, उस पर लाद दी गई। भारत ख़ुद विश्व के बाज़ार में नहीं आया लेकिन वह ब्रिटिश ढाँचे का औपनिवेशिक और खेतिहर पुछल्ला बन कर रह गया।

अंग्रेजों ने अपने अंग्रेजी नमूने का अनुसरण करते हुए बड़े जमींदार पैदा किए, मुख्य रूप से इसलिए क्योंकि उनके लिए काश्तकारों की बड़ी संख्या की तुलना में गिने चुने लोगों से बरताव करना ज्यादा आसान था। उनका लक्ष्य था लगान की शक्ल में अधिक-से-अधिक रुपया, जल्दी-से-जल्दी इकट्ठा किया जाय। यह भी जरूरी समझा गया कि एक ऐसा वर्ग पैदा किया जाए जिसके स्वार्थ अंग्रेजों के स्वार्थ से अभिन्न हों।

ब्रिटिश शासन ने इस तरह के नए वर्गों और निहित स्वार्थों को पैदा करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया जो उस शासन से बँधे थे और उनके विशेषाधिकार इस शासन के चलते रहने पर निर्भर थे। जमींदार थे और राजा थे और सरकार के विभिन्न महकमों में पटवारी, गाँव के मुखिया से लेकर ऊपर तक कर्मचारियों की बहुत बड़ी संख्या थी। सरकार के दो खास महकमे थे-मालगुज़ारी और पुलिस। इन दोनों के ऊपर हर जिले में कलेक्टर या जिला मजिस्ट्रेट होता था जो शासन की धुरी था।

इस तरह भारत को अपने जीते जाने का, और फिर ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश ताज के हाथ में पहुँचने (या बेचे जाने) का, ब्रिटिश साम्राज्य के बर्मा या दूसरी जगहों में फैलने का, अफ्रीका, फारस आदि पर चढ़ाई का और खुद भारतवासियों से अपनी सुरक्षा का ख़र्चा खुद उठाना पड़ा। उसे साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए बिना कुछ भुगतान किए, अड्डे की तरह इस्तेमाल तो किया ही गया, इसके अलावा उसे इंग्लैंड में ब्रिटिश सेना के एक हिस्से के प्रशिक्षण का

ख़र्च भी उठाना पड़ा। इस राशि को "कैपिटेशन चार्ज" कहा जाता था। वास्तव में भारत को ब्रिटेन के हर तरह के दूसरे ख़र्च भी उठाने पड़ते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में ब्रिटिश राज के इतिहास से किसी भारतीय को निश्चित रूप से मायूसी होगी और क्रोध आएगा। फिर भी, इससे अनेक क्षेत्रों में अंग्रेजी की श्रेष्ठता का, यहाँ तक कि हमारी फूट और कमज़ोरियों से लाभ उठाने की क्षमता का पता चलता है। यदि उन परिस्थितियों में, ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके नतीजों की उम्मीद, घटनाओं के स्वाभाविक क्रम के रूप में भी की जा सकती थी, तो साथ ही उसका विरोध भी बढ़ना अनिवार्य था और दोनों के बीच निर्णायक संघर्ष का होना भी।

भारत में ब्रिटिश शासन के अंतर्विरोध : राममोहन राय : समाचार पत्र सर विलियम जोन्स : बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजों ने जिनमें शिक्षाविद, प्राच्य-विद्या विशारद, पत्रकार मिशनरी और कुछ अन्य लोग थे, पाश्चात्य संस्कृति को भारत लाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अपने इस प्रयास में अक्सर उनकी टकराहट खुद अपनी सरकार से होती थी। सरकार को आधुनिक शिक्षा के प्रसार के प्रभाव से डर लगता था और वह इस काम के रास्ते में बहुत बाधाएँ डालती थी। फिर भी, अंग्रेजी चिंतन और साहित्य और राजनीतिक परंपरा से भारत को परिचित कराने का श्रेय उन योग्य और उत्साही अंग्रेजों को ही है, जिन्होंने अपने चारों ओर उत्साही भारतीय विद्यार्थियों को इकट्ठा कर लिया था। शिक्षा के प्रसार को नापसंद करने के बावजूद, खुद ब्रिटिश सरकार को परिस्थितियों से मजबूर होकर अपनी बढ़ती हुई व्यवस्था के लिए क्लर्कों को प्रशिक्षित करके तैयार करने का प्रबंध करना पड़ा। इन छोटे-छोटे पदों पर काम करने के लिए बड़ी संख्या में इंग्लैंड से लोगों को बाहर लाना उसकी बिसात के बाहर था। इसलिए धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार होने

लगा। हालाँकि यह शिक्षा सीमित भी थी और गलत ढंग की भी, फिर भी उसने नए और सक्रिय विचारों की दिशा में दिमाग की खिड़कियां और दरवाज़े खोल दिए।

धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा और उसने भारतीय मानस को प्रभावित किया और आधुनिक चेतना का प्रसार हुआ।

यूरोप के विचारों से बहुत सीमित वर्ग प्रभावित हुआ ,क्योंकि भारत अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि को पश्चिम की तुलना में बेहतर समझते हुए उससे चिपका रहा। पश्चिम का वास्तविक आघात और प्रभाव तो जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर हुआ जो पूर्व से स्पष्ट रूप से बेहतर था। नई तकनीक, रेलगाड़ी, छापाखाना, दूसरी मशीनें, युद्ध के अधिक कारगर तरीके यह सब ऐसी बातें थीं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, और ये पुरानी विचार-पद्धतियों के विरोध में परोक्ष ढंग से लगभग अनायास सामने आ गई थीं। सबसे प्रकट और व्यापक परिवर्तन यह हुआ कि खेतिहर व्यवस्था टूट गई और उसका स्थान वैयक्तिक संपत्ति और जमींदारी की अवधारणा ने ले लिया। मुद्रा-केंद्रित अर्थव्यवस्था का चलन हुआ और जमीन बिकाऊ वस्तु हो गई। रिवाज ने जिसे मज़बूती से सुरक्षित रखा था उसे मुद्रा ने विघटित कर दिया।

देश के किसी और बड़े हिस्से की अपेक्षा बंगाल ने बहुत पहले इन खेती-संबंधी तकनीकी, शैक्षिक और बौद्धिक परिवर्तनों को देखा और अनुभव किया, क्योंकि दूसरे प्रदेशों के मुकाबले बंगाल में ब्रिटिश शासन स्पष्ट रूप से पचास वर्ष पहले स्थापित हो चुका था।

अठारहवीं शताब्दी में बंगाल में एक अत्यंत प्रभावशाली व्यक्तित्व का उदय हुआ। ये थे राजा राममोहन राय। वे एक नए ढंग के व्यक्ति थे जिसमें प्राचीन और नवीन ज्ञान का मेल था। भारतीय विचारधारा और दर्शन की उन्हें गहरी जानकारी थी, वे संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के विद्वान थे और उस हिंदू-मुस्लिम

संस्कृति की उपज थे जो उस समय भारत के सुसंस्कृत वर्ग के लोगों पर छाई हुई थी। भारत में अंग्रेजों के आने और कई रूपों में उनकी श्रेष्ठता के कारण, राममोहन राय के जिज्ञासु और साहसिक मानस में उनके सांस्कृतिक मूलों को खोजने की प्रेरणा हुई। उन्होंने अंग्रेजी सीखी पर इतना काफ़ी नहीं था, उन्होंने पश्चिम के धर्म और संस्कृति के स्रोतों की खोज के लिए ग्रीक, लातीनी और इब्रानी भाषाएँ सीखीं। पश्चिमी सभ्यता के विज्ञान और तकनीकी पक्षों ने भी उन्हें आकर्षित किया, हालाँकि उस समय ये तकनीकी परिवर्तन उतने स्पष्ट नहीं हुए थे, जितने वे बाद में हुए। अपने दार्शनिक और विद्वतापूर्ण झुकाव के कारण राममोहन राय अनिवार्य रूप से प्राचीन साहित्यों की ओर झुके। प्राच्य-विद्या-विषारद मोनियर विलियम्स ने उनकी चर्चा करते हुए कहा कि तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की पद्धति की खोज करने वाले दुनिया के वे पहले उत्साही व्यक्ति थे फिर भी साथ ही साथ वे शिक्षा को आधुनिक सांचे में ढालकर उसे पुरानी पंडिताऊ पद्धति के चंगुल से निकालने के लिए बहुत उत्सुक थे। उन आरम्भिक दिनों में भी वे वैज्ञानिक पद्धति के पक्षधर थे और उन्होंने गवर्नर जनरल को गणित, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान और अन्य उपयोगी विज्ञानों की शिक्षा की आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा था।

वे केवल विद्वान और अन्वेषक नहीं थे, इन सबसे अधिक वे समाज सुधारक थे। आरम्भ में उन पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा और बाद में कुछ हद तक ईसाई मत का, लेकिन वे अपने धार्मिक आधार पर दृढ़ता से जमे रहे। परन्तु उन्होंने इस धर्म में सुधार करने का प्रयास किया और उसे उन कुरीतियों और कु-प्रथाओं से मुक्त करने का प्रयास किया जो उसके साथ सम्बद्ध हो गयी थीं। ब्रिट्रिश सरकार ने सती प्रथा पर रोक उन्हीं के आन्दोलन के कारण लगायी थी।

राममोहनराय भारतीय पत्रकारिता के प्रवर्तकों में से थे। सन् 1780 के बाद भारत में अंग्रेजों ने कई अखबार निकाले। इन अखबारों में आमतौर पर सरकार की कड़ी आलोचना रहती थी। परिणामतः सरकार से उनका झगड़ा होता और

उनपर कड़ा सेन्सर लगता था। भारत के अखबरों की स्वतंत्रता के लिए पहले आवाज उठाने वालों में अंग्रेज थे। उनमें से एक जिन्हें अब तक याद किया जाता है जेम्स सिल्क बकिंघम थे। उन्हें भारत छोड़कर जाना पडत्र था। पहला अखबार जिस पर भारतीयों का स्वामित्व था और जिसका सम्पादन भी भारतीयों ने किया था 1818 में अंग्रेजी में निकला था। उसी वर्ष श्रीरामपुर के बैपटिस्ट पादरियों ने बंगाली में एक मासिक और एक साप्ताहिक पत्र निकाला। किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित होने वाले ये पहले पत्र थे। इसके बाद एक के बाद एक अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई से अखबार और पत्रिकाएं बड़ी तेजी से निकलने लगीं।

इसी समय अखबारों की आज़ादी के लिए संघर्ष आरम्भ हो चुका था जो अनेक उतार-चढ़ाव के साथ आज भी जारी है।

राममोहन राय की पत्रकारिता का गहरा संबंध उनके सुधारवादी आन्दोलनों से था। उनका समन्चयवादी और विश्वजनीन दृष्टिकोण कट्टर वर्ग के लोगों को नापसंद था और वे उनके बहुत से सुधारों का भी विरोध करते थे। पर उनके बहुत से कट्टर समर्थक भी थे। इनमें टैगोर परिवार था जिसने बाद में बंगाल के पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राममोहन दिल्ली-सम्राट की ओर से इंग्लैंड गए और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में ब्रिस्टल में उनकी मृत्यु हो गई।

सन् 1857 की महान क्रांतिः जातीयतावाद

ब्रिटिश शासन के लगभग एक शताब्दी के उपरांत, बंगाल ने उससे समझौता कर लिया था। अकाल से नष्ट हुए किसान, नए आर्थिक बोझों के तले पिस रहे थे। नया बुद्धिजीवी वर्ग पश्चिम की ओर इस आशा से देख रहा था कि अंग्रेजी उदारता के सहारे से ही प्रगति होगी। लगभग यही स्थिति दक्षिण और पश्चिमी भारत में मद्रास और बंबई में थी। लेकिन उत्तरी सूबों में ऐसा कोई झुकाव और

समझौते की प्रवृत्ति नहीं थी और विशेष रूप से सामंत सरदारों और उनके अनुयायियों में विद्रोह की चेतना बढ़ रही थी। सामान्य जनता में भी असंतोष और तीव्र ब्रिटिश-विरोधी भावना खूब फैली थी।

मई सन् 1857 में मेरठ की भारतीय सेना ने बगावत कर दी। विद्रोह की योजना खुफिया ढंग से बहुत अच्छी तरह बनाई गई थी लेकिन नियत समय से पहले हुए विस्फोट ने नेताओं की योजना ही बिगाड़ दी। यह केवल सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक था। इसका बड़ी तेज़ी से प्रसार हुआ और इसने जनांदोलन और भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई का रूप ले लिया। जनांदोलन के रूप में यह दिल्ली, संयुक्त प्रांत (जैसा उन्हें आजकल कहा जाता है) मध्य भारत के कुछ भागों और बिहार तक सीमित था। मूलतः यह सामंतीय विस्फोट था, जिसका नेतृत्व सामंत सरदार और उनके अनुयायी कर रहे थे और व्यापक रूप से फैली विदेशी-विरोधी भावना से इसे सहायता मिल रही थी। इनके लिए मुगल राजवंश के उस अवशेष की ओर देखना अनिवार्य हो गया जो अब भी दिल्ली के राजमहल में बैठा था, लेकिन दुर्बल, बूढ़ा और अशक्त हो गया था। हिंदू और मुसलमान दोनों ने विद्रोह में पूरी तरह हिस्सा लिया।

इस विद्राह ने ब्रिटिश शासन पर पूरा दबाव डाला और अंततः इसका दमन भारतीय सहायता से किया गया। इससे उस पुरानी शासन-व्यवस्था में अंतर्निहित सारी कमजोरियाँ सामने आ गयीं जो विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की आखिरी दमतोड़ कोशिश कर रही थीं। सामंत सरदारों के साथ व्यापक क्षेत्रों की आम जनता की सहानुभूति थी, लेकिन वे अयोग्य, असंगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श और सार्वजनिक हित नहीं था।

इस विद्रोह से कुछ श्रेष्ठ छापामार नेता उभर कर आए। इनमें से एक थे बहादुरशाह के रिश्तेदार फ़िरोज़शाह लेकिन इनमें सबसे तेजस्वी थे तांत्या टोपे

जिन्होंने कई महीनों तक अंग्रेजों को परेशान किया जबकि पराजय उनके सामने खड़ी थी। आखिर में जब उन्होंने नर्मदा नदी को पार करके मराठा क्षेत्र में इस आशा से प्रवेश किया कि उनके अपने लोग उनकी सहायता और स्वागत करेंगे, किसी ने उनका स्वागत नहीं किया और उनके साथ धोखा हुआ। इन सबके ऊपर एक और विशिष्ट नाम है, जिसे आज भी आम जनता श्रद्धापूर्वक स्मरण करती है। यह नाम झाँसी की रानी .लक्ष्मीबाई का है जो बीस वर्ष की आयु में लड़ते-लड़ते मारी गई। जिस अंग्रेज जनरल ने उसका मुकाबला किया उसी ने उसके बारे में कहा था कि वह विद्रोही नेताओं में 'सर्वोत्तम और सबसे बहादुर' थी।

विद्रोह और उसके दमन के बारे में बहुत झूठा और भ्रष्ट इतिहास लिखा गया है। भारतीय उसके बारे में क्या सोचते हैं, यह बात शायद ही किताब के पृष्ठों तक छप कर पहुँच पाई। सावरकर ने लगभग तीस वर्ष पहले "द हिस्ट्री ऑफ़ द वॉर ऑफ़ इंडियन इंडिपेंडेंस" शीर्षक पुस्तक लिखी, लेकिन उनकी पुस्तक तत्काल जब्त कर ली गई और अब भी जब्त है।

यद्यपि विद्रोह का सीधा असर देश के कुछ ही हिस्सों पर पड़ा, लेकिन उसने पूरे भारत को झकझोर कर रख दिया, विशेष रूप से ब्रिटिश शासन को। सरकार ने अपने पूरे प्रशासन का पुनर्गठन किया; ब्रिटिश ताज, यानी पार्लियामेंट ने 'ईस्ट इंडिया कंपनी' से देश को अपने हाथ में ले लिया, जिस भारतीय सेना ने अपनी बग़ावत से विद्रोह की शुरुआत की थी वह नए सिरे से संगठित हुई।

हिन्दुओं और मुसलमानों में सुधारवादी और दूसरे आंदोलन

तकनीकी परिवर्तनों और उनके जोरदार परिणामों के द्वारा भारत से पश्चिम की वास्तविक टकराहट उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी। विचारों के क्षेत्र में भी आघात पहुँचा और परिवर्तन हुआ और वह क्षितिज जो लंबे अरसे से एक संकरे

खोल में बंद था, विस्तृत हुआ। पहली प्रतिक्रिया अल्पसंख्यक अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग तक सीमित थी, और उसमें लगभग हर पश्चिमी चीज़ के प्रति प्रशंसा और स्वीकृति का भाव था। हिंदू धर्म के कुछ सामाजिक रीति-रिवाजों से खिन्न होकर, बहुत से हिंदू ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए और बंगाल में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी धर्म-परिवर्तन कर लिया। राजा राममोहन राय ने इसलिए हिंदू धर्म को इस नए वातावरण के अनुरूप ढालने का प्रयास किया और उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना बहुत कुछ तर्कणापरक और समाज-सुधारवादी आधार पर की। उनके बाद केशवचंद्र ने उसे लगभग ईसाई रूप दे दिया। बंगाल के उभरते हुए मध्य वर्ग पर ब्रह्म समाज का प्रभाव पड़ा लेकिन धार्मिक आस्था के रूप में वह बहुत कम लोगों तक सीमित रहा। हां, इन लोगों में कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति और परिवार थे। लेकिन ये परिवार भी हालांकि सामाजिक और धार्मिक सुधारों में प्रबल रूचि रखते थे, फिर भी उनकी प्रवृत्ति वेदांत के प्राचीन भारतीय आदर्शों की ओर लौटने की थी।

भारत में अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं और हिंदू धर्म के कठोर सामाजिक ढांचे और व्यवहार में परिवर्तनशील चरित्र के विरुद्ध असंतोष उभर रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक गुजराती स्वामी दयानंद सरस्वती ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सुधार-आंदोलन की शुरुआत की लेकिन उसकी जड़ पंजाब के हिंदुओं में जमी। यह आर्य समाज का आंदोलन था और इसका नारा था "वेदों की ओर लौटो।" इस नारे का वास्तविक अर्थ था वेदों के समय से आर्य-धर्म में होने वाले विकास का निषेध, अर्थात् जिस रूप में वेदांत दर्शन का विकास हुआ; उसकी एकेश्वरवाद की केंद्रीय अवधारणा, सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण, साथ ही कुछ लोकप्रचलित और अशिष्ट बातें—सभी की एक स्वर से कड़ी निंदा की गई। यहाँ तक कि वेदों की भी एक विशेष ढंग की व्याख्या की गई। आर्यसमाज इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव की प्रतिक्रिया के रूप में

सामने आया—विशेषकर इस्लाम की प्रतिक्रिया में। यह भीतर से उठने वाला धर्मयुद्ध और सुधारवादी आंदोलन था साथ ही बाहरी हमलों के विरुद्ध सुरक्षात्मक संगठन था। इसने धर्म परिवर्तन करके हिंदू धर्म में प्रवेश की प्रथा चलाई इसलिए दूसरे ऐसे धर्मों से जिनमें धर्म-परिवर्तन का विधान है इसके संघर्ष की संभावना उत्पन्न हो गई। आर्यसमाज, जिसमें बहुत-सी बातें इस्लाम से मिलती-जुलती हैं, ऐसी बातों के विरुद्ध जिन्हें वह दूसरे धर्मों का अनाधिकार हस्तक्षेप समझता था, हर हिंदू चीज का पक्षधर हो गया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इसका प्रसार मुख्य रूप से पंजाब और संयुक्त प्रदेश के हिंदू मध्य-वर्ग में हुआ। एक समय ऐसा आया जब सरकार इसे राजनीतिक दृष्टि से क्रांतिकारी आंदोलन समझती थी लेकिन इसके भीतर बड़ी संख्या में सरकारी कर्मचारियों ने इसे पूरी तरह सरमान्य बना दिया। लड़के-लड़कियों में समान रूप से शिक्षा के प्रसार में, स्त्रियों की स्थिति के सुधार करने में और दलित जातियों की स्थिति और स्तर को ऊँचा उठाने में इसने बहुत अच्छा कार्य किया।

लगभग स्वामी दयानंद के ही समय में बंगाल में एक दूसरे ढंग का व्यक्तित्व सामने आया और नए अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग के बहुत लोगों पर उसके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा। ये श्रीरामकृष्ण परमहंस थे। वे सीधे-साधे व्यक्ति थे, विद्वान नहीं थे पर धर्मप्राण व्यक्ति थे लेकिन समाज सुधार में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। वे सीधे चैतन्य और भारत के अन्य संतों की परंपरा में आते हैं। वे मुख्यतः धार्मिक थे पर साथ ही बहुत उदार थे। आत्मसाक्षात्कार की अपनी खोज में वे मुसलमान और ईसाई तत्त्वज्ञानियों तक से मिले। उनमें से कुछ लोग कुछ समय श्रीरामकृष्ण के साथ भी रहे। वे कलकत्ता के निकट दक्षिणेश्वर में बस गए, और उनके असाधारण व्यक्तित्व और चरित्र की ओर धीरे-धीरे लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा। जो लोग उनसे मिलने जाते थे, ऐसे लोग भी जो इस सीधे-साधे धार्मिक व्यक्ति पर हंसते थें, उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए और

बहुत से ऐसे लोगों ने जो पूरी तरह पश्चिमी रंग में रंग गए थे महसूस किया कि कुछ ऐसा है जिससे वे वंचित रह गए हैं। धार्मिक विश्वास की बुनियादी बातों पर बल देते हुए, उन्होंने हिंदू धर्म और दर्शन के विविध पक्षों को आपस में जोड़ा। ऐसा लगता था जैसे वे उनका प्रतिनिधित्व अपने व्यक्तित्व के द्वारा कर रहे हों। वास्तव में उन्होंने दूसरे धर्मों को भी अपने क्षेत्र में ले लिया। वे हर तरह की सांप्रदायिकता के विरोधी थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सभी मार्ग सत्य की ओर जाते हैं। वे कुछ उन संतों की तरह थे जिनके बारे में हमें एशिया और यूरोप के पुराने इतिहास में पढ़ने को मिलता है। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उन्हें समझना कठिन था। फिर भी वे भारत के बहुरंगी साँचे के अनुरूप थे। भारत के तमाम लोग उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसके चारों ओर अलौकिक ज्योति थी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते थे। जिन लोगों ने उन्हें देखा वे उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए और बहुत से लोग जिन्होंने उन्हें कभी नहीं देखा उनकी जीवन-कथा से प्रभावित हुए। इस दूसरे वर्ग में रोम्यां रोला थे, जिन्होंने उनकी और उनके मुख्य शिष्य विवेकानंद की जीवनी लिखी।

विवेकानन्द ने अपने गुरु-भाइयों के संयोग से सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसमें सांप्रदायिकता नहीं थी। विवेकानंद के पास अतीत का आधार था और उन्हें भारत की विरासत पर गर्व था, फिर भी जीवन की समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण आधुनिक था और वे भारत के अतीत और वर्तमान के बीच एक तरह के सेतु थे। वे बंगला और अंग्रेजी के ओजस्वी वक्ता थे और बंगला गद्य और ललित कविता के लेखक थे। वे सुंदर व्यक्तित्व के धनी थे—रोबीले, शालीन और गरिमावान। उन्हें अपने और अपने मिशन पर भरोसा था। इसके साथ ही वे सक्रिय और तेजस्वी शक्ति से संपन्न थे और उनमें भारत को आगे बढ़ाने की गहरी लगन थी। उदास और पतित हिंदू मानस के लिए वे संजीवनी की तरह आए और उन्होंने उसे स्वावलंबी बनाया और उसके कुछ

प्राचीन मूलों से जोड़ा। 1893 ई. में उन्होंने शिकागो में अंतर्राष्ट्रीय धर्म-सम्मेलन में भाग लिया। उन्होंने एक वर्ष से अधिक अमरीका में बिताया, यूरोप की यात्रा एथेंस और कुस्तुनतुनिया तक की और मिस्र, चीन और जापान भी गए। वे जहाँ भी जाते थे वहीं अपनी उपस्थिति से ही नहीं, बल्कि वे जो कहते थे और जिस तरह कहते थे, उससे थोड़ी-सी हलचल जरूर पैदा करते थे। जो एक बार इस हिंदू संन्यासी को देख लेता था, उसके लिए उसे और उसके संदेश को भूलना कठिन हो जाता था। अमरीका में उन्हें "तूफानी हिन्दू" कहा जाता था। खुद उन पर भी पश्चिमी देशों की यात्रा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, वे अंग्रेजों की लगन और अमरीकी लोगों की जीवंतता और समभाव के प्रशंसक थे। "किसी भी विचार के प्रसार के लिए अमरीका विश्व का सर्वोत्तम क्षेत्र है" लेकिन वे पश्चिम के धर्म व्यवहार से प्रभावित नहीं हुए और भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में उनकी आस्था और बलवती हो गई। अपने पतन के बावजूद भारत तब भी उनके लिए आलोक का प्रतिनिधित्व करता था।

उन्होंने वेदांत के अद्वैत-दर्शन के एकेश्वरवाद का उपदेश दिया। उन्हें विश्वास था कि विचारशील मानवता के भविष्य के लिए यही एकमात्र धर्म हो सकता है। क्योंकि वेदांत केवल आध्यात्मिक नहीं विवेकसम्मत दर्शन था और बाह्य-प्रकृति विषयक् वैज्ञानिक खोजों के साथ उसका सामंजस्य था। "यह विश्व न किसी विश्वोपरि ईश्वर की सृष्टि है न किसी बाहरी प्रतिभा की। यह स्वयंभू, स्वयं संहारक, स्वयंपोषक, एक अनंत अस्तित्व, ब्रह्म है। वेदांत का आदर्श, मनुष्य और उसकी सहज दैवी प्रकृति में एकता का था, मनुष्य में ईश्वर का दर्शन ही सच्ची ईश्वरीय दृष्टि है, मनुष्य सब जीवों में सर्वोत्कृष्ट है। लेकिन अमूर्त वेदांत के लिए दैनंदिन जीवन में सजीव काव्यमय होना अनिवार्य है; बुरी तरह उलझी पौराणिकता को मूर्त नैतिक रूपों में सामने आना चाहिए, और विस्मयकारी योगवाद से वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोविज्ञान को निकल कर आना चाहिए। भारत का

पतन इसलिए हुआ क्योंकि उसने अपने आपको संकीर्ण बना लिया था। उसने अपनी खोल में सिमटकर दूसरे राष्ट्रों से संपर्क तोड़ लिया और इस तरह वह एक मृत और जड़ सभ्यता की स्थिति में पहुँच गया। वर्ण-व्यवस्था जो अपने आरंभिक रूप में आवश्यक भी थी और वांछनीय भी और जिसका उद्देश्य वैयक्तिकता और स्वाधीनता का विकास करना था, भयंकर रूप से विकृत होकर अपने लक्ष्य से बिल्कुल उल्टी होकर चलने लगी और उसने आम जनता को कुचला। वर्ण-व्यवस्था एक तरह की सामाजिक व्यवस्था है जो धर्म से अलग थी, और अलग ही रहनी चाहिए। सामाजिक संगठनों को समय के परिवर्तन के साथ बदलना चाहिए। विवेकानंद ने कर्म-कांड के निरर्थक तात्विक-विवेचनों और तर्कों की घोर निंदा की—विशेष कर ऊंची जाति की छुआछूत की। हमारा धर्म रसोईघर में है। हमारा ईश्वर खाना पकाने का बर्तन है और हमारा धर्म है: "मुझे मत छुओ मैं पवित्र हूँ।"

विवेकानंद ने बहुत-सी बातें कहीं लेकिन एक बात जिसके बारे में उन्होंने अपने लेखन और भाषणों में बराबर लिखा, वह थी "अभय"—निडर रहो, समर्थ बनो। उनके अनुसार मनुष्य दयनीय प्राणी नहीं है बल्कि उसमें ईश्वरीय अंश है, वह किसी बात से क्यों डरे? "अगर दुनिया में कोई पाप है तो वह दुर्बलता है: हर तरह की दुर्बलता से बचो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है। उपनिषदों की यही महान शिक्षा थी। भय से बुराई दुख और अनुताप होता है। ऐसा काफ़ी हो चुका। कोमलता भी काफी हो ली। "हमारे देश को अब लोहे के पुट्ठे, फौलादी स्नायु और ऐसी प्रबल संकल्प-शक्ति चाहिये जिसे कोई रोक न सके। जो विश्व के रहस्यों और गोपनीयताओं को भेद सके। जो अपने लक्ष्य को चाहे जैसे पूरा करे, भले ही उसके लिए उन्हें सागर के तल तक जाकर मौत का सामना करना पड़े।" उन्होंने जादू-टोने और रहस्यवाद की निंदा की ये, गिलगिली चीज़ें, इनमें महान सत्य हो सकता है, पर इन्होंने हमें लगभग नष्ट कर दिया. . . . और सत्य

की कसौटी यह है . . . कोई भी चीज़ जो तुम्हें शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से कमज़ोर बनाती है, उसे ज़हर की तरह छोड़ दो, उसमें कोई जीवन नहीं है, वह सत्य नहीं हो सकती। सत्य मज़बूत बनाता है, सत्य पवित्रता है, सर्वज्ञान है . . . ये रहस्यवाद, गरचे इनमें सत्य के कुछ कण हैं, फिर भी सामान्यतः कमजोर बनाते हैं. . . . अपने उपनिषदों की ओर लौटो, जिनमें चमक है, शक्ति, दार्शनिक आभा है, और इन तमाम रहस्यवादी बातों से, इन कमजोर बनाने वाली बातों से संबंध तोड़ दो। इस दर्शन को स्वीकार करो; संसार का सबसे बड़ा सत्य सबसे सरल वस्तुए होती हैं. . . . . इतनी सरल जितना तुम्हारा अस्तित्व। ''अंधविश्वासों से सावधान रहो। मैं तुम्हें अंधविश्वासी मूर्ख कहने की अपेक्षा कट्टर नास्तिक कहना पसंद करुंगा, क्योंकि नास्तिक सजीव होता है, और आप उसे कुछ बना सकते हैं। लेकिन अगर अंधविश्वास घर कर ले तो दिमाग गायब हो जाता है, बुद्धि क्षीण होने लगती है, जीवन का पतन होने लगता है. . . . . रहस्य चर्चा और अंधविश्वास हमेशा कमज़ोरी की निशानी होते हैं।

इसलिए विवेकानंद ने भारत के दक्षिणी छोर में कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक गर्जना की, और इस प्रक्रिया में उन्होंने अपने आपको खपा दिया, यहाँ तक कि सन् 1902 में उनतालीस वर्ष की आयु में ही उनकी मृत्यु हो गई।

विवेकानंद के ही समकालीन थे रवींद्रनाथ ठाकुर। किन्तु वे बाद की पीढ़ी के थे। टैगोर परिवार ने उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान बंगाल के विभिन्न सुधारवादी आंदोलनों में आगे बढ़कर भाग लिया था। उस परिवार में आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचे लोग थे, श्रेष्ठ लेखक और कलाकार थे, पर रवींद्रनाथ का स्थान इन सबसे ऊँचा था और निसंदेह पूरे भारत में क्रमशः उनकी स्थिति ऐसी हो गई कि कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। उनके सर्जनात्मक कर्म की व्याप्ति पूरी दो पीढ़ियों तक रही और वे लगभग हमारी वर्तमान पीढ़ी के प्रतीत होते हैं। वे राजनीतिज्ञ नहीं थे किन्तु वे इतने संवेदनशील और भारतीय जनता की स्वाधीनता

के प्रति इतने समर्पित थे कि वे हमेशा अपनी कविता और गीतों की हाथीदाँत की मीनार में बंद नहीं रह पाते थे। जब भी कोई बात उनसे बर्दाश्त नहीं होती थी, वे बाहर निकलते थे और ब्रिटिश सरकार या अपने लोगों को चेतावनी देते थे। बीसवीं सदी के पहले दशक में बंगाल में व्याप्त स्वदेशी आंदोलन में उन्होंने प्रमुख भाग लिया और अमृतसर के हत्याकांड के समय उन्होंने "सर" का खिताब लौटा दिया। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो रचनात्मक कार्य खामोशी से आरंभ किया था, उसने शांति निकेतन को भारतीय संस्कृति का प्रधान केंद्र ही बना दिया। भारतीय मानस पर उनका प्रभाव, विशेषकर एक के बाद एक आने वाली नई पीढ़ियों पर बेहद रहा। जिस बंगला भाषा में उन्होंने स्वयं लिखा, केवल वही नहीं, भारत की सब आधुनिक भारतीय भाषाएं कुछ सीमा तक उनके लेखन से प्रभावित हुईं। उन्होंने पूरब और पश्चिम के आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में किसी अन्य भारतीय से अधिक मदद की और भारतीय राष्ट्रवादी भावना के आधार को व्यापक बनाया। वे भारत के सर्वोत्तम अंतर्राष्ट्रीयतावादी थे। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में विश्वास और उसके लिए काम करने के कारण, वे भारत के संदेश को दूसरे देशों में ले जाते रहे और उनके संदेश अपने लोगों के लिए लाते रहे। फिर भी अपने सारे अंतर्राष्ट्रीयतावाद के बावजूद, उनके पैर दृढ़तापूर्वक भारत की धरती पर जमे हुए थे और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से ओत-प्रोत था। विकास की सहज गति के विपरीत वे ज्यों-ज्यों बड़े होते गए अपने दृष्टिकोण और विचारों में उतने ही क्रांतिकारी होते गए। घोर व्यक्तिवादी होने के बावजूद वे रूसी क्रांति की महान उपलब्धियों के प्रशंसक थे, विशेषकर शिक्षा के प्रसार, संस्कृति, स्वास्थ्य और समानता की चेतना के। राष्ट्रवाद एक संकीर्ण मत है, और जब राष्ट्रवाद का संघर्ष शक्तिशाली साम्राज्यवाद से होता है तो और तरह की निराशाएँ और जटिलताएँ सामने आती हैं। टैगोर ने भारत की उसी तरह बहुत अधिक सेवा की जैसे कि एक दूसरे स्तर पर गांधी जी ने की थी। अर्थात्

उन्होंने लोगों को एक सीमा तक इस बात के लिए विवश किया कि वे अपने विचारों के संकीर्ण घेरे से बाहर निकलकर मानवता को प्रभावित करने वाले व्यापक प्रश्न-पर ध्यान दें। टैगोर भारत के सबसे बड़े मानवतावादी थे।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में टैगोर और गांधी निस्संदेह भारत के दो विशिष्ट और प्रभावशाली व्यक्तित्व थे। उनकी समानताओं और विषमताओं की तुलना से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। कोई दो व्यक्ति अपनी बनावट और मिजाज़ में एक-दूसरे से इतने भिन्न नहीं हो सकते। टैगोर संभ्रांत कलाकार थे, जो सर्वहारा के प्रति सहानुभूति के कारण लोकतंत्रवादी हो गए थे। वे भारत की सांस्कृतिक परंपरा के वास्तविक प्रतिनिधि थे। वह परंपरा जो जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार करके उसे नृत्य और संगीत के साथ जीती है। गांधी जो विशेष रूप से जनता के आदमी थे, जो भारतीय किसान का साकार रूप थे, भारत की दूसरी प्राचीन परंपरा का प्रतिनिधित्व करते थे। यह परंपरा संन्यास और त्याग की परंपरा थी फिर भी टैगोर मूलतः विचारक थे और गांधी अनवरत कर्मठता के प्रतीक थे। दोनों की, अपने-अपने ढंग की विश्वदृष्टि थी और इसके साथ ही दोनों पूरी तरह भारतीय थे। वे दोनों भारत के अलग-अलग किंतु सुसंगत पक्षों का प्रतिनिधित्व करते थे जो एक-दूसरे के पूरक थे।

टैगोर और गांधी पर विचार करते हुए हम वर्तमान समय तक आ जाते हैं। लेकिन हम तो एक और पहले युग पर विचार करते हुए यह देख रहे थे कि विवेकानंद और दूसरे लोगों ने भारत के अतीत की महानता पर बल देते हुए उस पर जो गर्व किया उसका लोगों पर, विशेषकर हिंदुओं पर क्या प्रभाव पड़ा। विवेकानंद स्वयं इस संबंध में सावधान थे और उन्होंने लोगों को चेतावनी दी थी कि वे अतीत में बहुत अधिक विचरण न करें बल्कि भविष्य की चिंता करें। उन्होंने लिखा था "हे ईश्वर, हमारा देश अपने अतीत में शाश्वत विचरण से कब मुक्त होगा?" पर स्वयं उन्होंने और दूसरे लोगों ने भी उस अतीत का आह्वान

किया था। उसमें एक सम्मोहन था और उससे मुक्त होना संभव नहीं था।

अतीत की ओर मुड़कर देखने और उसमें शांति और पोषण पाने में प्राचीन साहित्य और इतिहास का नए सिरे से अध्ययन करने के कारण सहायता मिली। बाद में पूर्वी समुद्रों में भारतीय उपनिवेशों की कहानी के क्रमशः खुलने से भी इसमें सहायता मिली। अपनी आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विरासत में हिंदू मध्य-वर्ग की आस्था को बढ़ाने में श्रीमती ऐनी बेसेंट का जबरदस्त प्रभाव पड़ा। इस सब में एक आध्यात्मिक और धार्मिक तत्त्व था, लेकिन साथ ही उसके पीछे सुदृढ़ राजनीतिक पृष्ठभूमि भी थी। उदीयमान मध्य वर्ग का झुकाव राजनीतिक था और वे किसी धर्म की तलाश में इतना नहीं थे। उन्हें पकड़ने के लिए सांस्कृतिक आधार चाहिये था। कुछ ऐसा जो उनमें आत्मविश्वास पैदा करता, कुछ ऐसा जो उस नैराश्य और अपमान के बोध को कम करता, जो उनके भीतर विदेशी जीत और शासन ने पैदा कर दिया था। हर देश में राष्ट्रीयता के विकास के साथ धर्म के अलावा यह तलाश, अपने अतीत की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। अपनी धार्मिक निष्ठा में किसी तरह की कमी किए बिना, ईरान जान-बूझकर अपनी महानता के पूर्व-इस्लाम युग में लौटा और उसने इस स्मृति का उपयोग वर्तमान राष्ट्रीयता को मजबूत करने के लिए किया। यही स्थिति दूसरे देशों में भी है। भारत का अतीत अपनी संपूर्ण सांस्कृतिक विविधता और महानता के साथ सब भारतीयों की साझी विरासत है—हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाईयों तथा अन्य लोगों की भी और उन्हीं के पूर्वजों ने इसके निर्माण में सहयोग दिया था। बाद में दूसरे मतों में धर्म परिवर्तन कर लेने के कारण, वे इस विरासत से वंचित नहीं हो जाते; ठीक उसी तरह जैसे ईसाई धर्म को स्वीकार करने के बाद यूनानियों में अपने पूर्वजों की महान उपलब्धियों के प्रति अभिमान में कोई कमी नहीं आई, न ही इटली के निवासियों ने रोमन गणतंत्र और प्राचीन साम्राज्य को धर्म परिवर्तन के बाद भुलाया। यदि भारत के सभी लोगों ने इस्लाम या ईसाई धर्म कबूल कर

लिया होता, तब भी उसकी सांस्कृतिक विरासत उन्हें प्रेरित करने और उन्हें वह शालीनता और गरिमा देने के लिए बनी रहती जो जीवन की समस्याओं और अपने तमाम मानसिक संघर्षों के साथ एक लंबे इतिहास वाले किसी सभ्य अस्तित्व की जनता को मिलती है।

प्राचीन दर्शन और साहित्य, कला और इतिहास ने कुछ सांत्वना दी। राममोहन राय, दयानन्द, विवेकानंद और अन्य लोगों ने नए विचारधारात्मक आन्दोलन चलाए। जहाँ एक ओर उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की समृद्ध साहित्य धारा से रसपान किया वहाँ दूसरी ओर उनका मानस भारत के प्राचीन मनीषियों और शूरवीरों के विचारों और कार्यों से भरा था और उन पुरा गाथाओं और परंपराओं से भी जिन्हें उन्होंने अपने बचपन से आत्मसात किया था।

इसमें से बहुत-सी बातें मुसलमान जनता में भी समान रूप से प्रचलित थीं। वे लोग परंपराओं से भलीभाँति परिचित थे। लेकिन धीरे-धीरे यह महसूस किया जाने लगा, विशेष रूप से उच्च वर्ग के मुसलमानों के द्वारा, कि उनके लिए इन अर्द्ध-धार्मिक परंपराओं से जुड़ना बहुत मुनासिब नहीं होगा क्योंकि इन परंपराओं को बढ़ावा देना इस्लाम की भावना के विरुद्ध होगा। उन्होंने अपनी कौमी बुनियाद दूसरी जगह तलाश की। कुछ हद तक उन्होंने उसे भारत के अफगान और मुग़ल युग में पाया, लेकिन उससे खाली जगह पूरी तरह नहीं भर पाई।

सांस्कृतिक मूल की इस खोज में भारतीय मुसलमान (अर्थात् उनमें से मध्य वर्ग के कुछ लोग) इस्लाम के इतिहास की ओर मुड़े। उन युगों की ओर जब इस्लाम बगदाद, स्पेन, कुस्तुंतुनिया, मध्य एशिया और दूसरे देशों में विजेता और रचनात्मक शक्ति के रूप में छाया हुआ था। इस तरह भारतीय मुसलमानों को इस्लाम की इस पुरानी महानता के विचार से कुछ मनोवैज्ञानिक संतोष मिला।

गदर के बाद भारत के मुसलमान इस असमंजस में थे कि वे किस ओर मुड़ें। ब्रिटिश सरकार ने जानबूझकर हिंदुओं की तुलना में उनका दमन कहीं

अधिक किया, और इस दमन का प्रभाव विशेष रूप से उन मुसलमानों पर पड़ा जिनसे नया मध्य वर्ग या बुर्जुआ वर्ग पैदा होता है। बेहद निराश और हताश होकर वे कट्टर ब्रिटिश विरोधी और रूढ़िवादी हो गए। सन् 1870 के बाद उनके प्रति ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ और वह उनके अधिक अनुकूल हो गई। इस परिवर्तन का विशेष कारण ब्रिटिश सरकार की संतुलन की नीति थी जिसे उसने बराबर बनाए रखा। फिर भी, इस प्रक्रिया में सर सैयद अहमद खाँ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उन्हें इस बात का भरोसा था कि वे ब्रिटिश सत्ता से सहयोग करके ही मुसलमानों को ऊपर उठा सकते हैं। वे इस वात के लिए बहुत उत्सुक थे कि ये लोग अंग्रेजी शिक्षा को स्वीकार कर लें और अपनी पीढ़ियों की खोल से बाहर निकल आएँ। उन्होंने यूरोपीय सभ्यता को जिस रूप में देखा था, उसका उन पर गहरा प्रभाव था। वास्तव में यूरोप से लिखे उनके कुछ पत्रों से यह जाहिर होता है कि वे इतने चकाचौंध थे, कि उनका संतुलन बिगड़ गया था।

सर सैयद उत्साही सुधारक थे और वे आधुनिक वैज्ञानिक विचारों के साथ इस्लाम का मेल बैठाना चाहते थे। यह कार्य किसी बुनियादी आस्था पर आक्षेप करने से नहीं बल्कि धर्म ग्रंथों की विवेकसम्मत व्याख्या करने से ही किया जा सकता था। सबसे अधिक वे नए ढंग की शिक्षा को बढ़ावा देना चाहते थे। राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभ से वे भयभीत हुए, क्योंकि उनका विचार था कि ब्रिटिश अधिकारियों का किसी भी तरह का विरोध करने के कारण उन्हें अपने शैक्षिक कार्यक्रम में उनकी सहायता नहीं मिलेगी। उन्हें यह सहायता जरूरी मालूम होती थी, इसलिए उन्होंने मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावना को कम करने की कोशिश की और उन्हें नेशनल कांग्रेस से जो उस समय आकार ले रही थी हटाने की कोशिश की। उन्होंने जिस अलीगढ़ कॉलिज की स्थापना की, उसका एक घोषित उद्देश्य था, "भारत के मुसलमानों को ब्रिटिश ताज की योग्य और उपयोगी प्रजा बनाना।" वे नेशनल कांग्रेस का विरोध इसलिए नहीं करते थे कि

वे उसे विशेष रूप से हिंदू संगठन समझते थे, उन्होंने उसका विरोध इसलिए किया क्योंकि उनके विचार से यह संगठन राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक आक्रामक था, (हालाँकि उस समय यह काफ़ी नरम हो गया था) और वे अंग्रेजों की सहायता और सहयोग चाहते थे। उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की कि कुल मिलाकर मुसलमानों ने गदर में हिस्सा नहीं लिया और वे ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफ़ादार रहे। वे किसी रूप में हिंदू विरोधी या सांप्रदायिक दृष्टि से अलगाववादी नहीं थे। बार-बार वे इस बात पर बल देते रहे कि धार्मिक मतभेदों का कोई राजनीतिक और राष्ट्रीय महत्त्व नहीं होता। उन्होंने कहाः "क्या तुम सब एक ही देश के रहने वाले नहीं हो? याद रखो, "हिंदू" और "मुसलमान" ये शब्द सिर्फ़ धार्मिक अंतर बताने के लिए हैंः वरना सब लोग, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, यहाँ तक कि ईसाई भी जो इस देश में रहते हैं इस दृष्टि से सब एक ही राष्ट्र के लोग हैं।

सर सैयद अहमद खाँ का प्रभाव मुसलमानों में उच्च वर्ग के कुछ लोगों तक ही सीमित था, उन्होंने शहरी या देहाती आम जनता से संपर्क नहीं किया।

सर सैयद के कई योग्य और उल्लेखनीय सहयोगी थे। उनके इस तर्कसंगत दृष्टिकोण का बहुत लोगों ने समर्थन किया। इनमें औरों के अलावा सैयद चिराग अली और नवाब मोहसिन-उल-मुल्क भी शामिल थे। उनकी शैक्षिक गतिविधियों से मुंशी करामत अली, दिल्ली के मुंशी ज़का उल्ला, डा० नजीर अहमद, मौलाना शिबली नूमानी, और उर्दू साहित्य के प्रसिद्ध कवि हाली आकर्षित हुए। सर सैयद अपने प्रयत्न में इतनी दूर तक सफल हुए कि मुसलमानों में अंग्रेजी शिक्षा आरंभ हो गई, और उनका दिमाग राजनैतिक आंदोलन से हट गया। एक मुस्लिम एजुकेशनल कांफ्रेंस शुरू की गई और उसने नौकरियों और दूसरे पेशों में उभरते हुए मध्य वर्ग के मुसलमानों को आकर्षित किया।

यह बात ध्यान देने की है कि गदर के बाद के समय में भारतीय

मुसलमानों में जितने विशिष्ट लोग थे, जिनमें सर सैयद भी शामिल हैं, सभी ने पुरानी परंपरागत शिक्षा पाई थी, हाँ उनमें से कुछ लोगों ने बाद में अंग्रेजी का ज्ञान हासिल कर लिया और वे नए विचारों से भी प्रभावित हुए। नई पश्चिमी शिक्षा ने तब भी उनके बीच कोई उल्लेखनीय व्यक्तित्व पैदा नहीं किया। उर्दू के जाने माने शायर, और उस सदी में भारत के लेखकों में एक हस्ती ग़ालिब, गदर से पहले अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर थे।

वर्ष 1912 भारत में मुस्लिम दिमाग के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उस साल दो नए साप्ताहिक निकलने शुरू हुए--उर्दू में "अल-हिलाल" और अंग्रेजी में "द कॉमरेड"। "अल-हिलाल" का आरंभ अबुल कलाम आज़ाद (कांग्रेस के वर्तमान सभापति) ने किया। ये चौबीस वर्ष के प्रतिभाशाली नवयुवक थे, जिनकी आरंभिक शिक्षा काहिरा में अल-अज़हर विश्वविद्यालय में हुई थी, और पंद्रह से बीस वर्ष की आयु में ही वे अपने अरबी और फ़ारसी के ज्ञान और गहन अध्ययन के लिए प्रसिद्ध हो गए थे। इसके साथ उन्होंने बाहर की इस्लामी दुनिया के बारे में जानकारी हासिल की और उन सुधारवादी आंदोलनों के बारे में भी जो वहाँ चल रहे थे। उन्हें इसके साथ ही यूरोपीय मामलों की पूरी जानकारी थी। उन्होंने धर्म-ग्रंथों की व्याख्या बुद्धिवादी दृष्टिकोण से की। वे इस्लामी परंपरा में पूरी तरह डूबे हुए थे और मिस्र, तुर्की, सीरिया, फ़िलिस्तीन, ईराक और ईरान के प्रसिद्ध मुस्लिम नेताओं और सुधारकों से उनके व्यक्तिगत संबंध थे। उन पर इन देशों में होने वाले राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास का गहरा प्रभाव था। अपने लेखन से वे इन इस्लामी देशों में किसी भी अन्य भारतीय मुसलमान की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हुए।

उनका दृष्टिकोण अधिक उदार और तर्कसंगत था। इस कारण वे पुराने नेताओं के सामंती, संकीर्ण धार्मिकता और अलगाववादी दृष्टिकोण से दूर थे। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे अनिवार्य रूप से भारतीय राष्ट्रवादी थे।

अबुलकलाम आज़ाद ने उनसे अपने साप्ताहिक अल-हिलाल में नई भाषा में बात की। यह केवल विचार और दृष्टिकोण के हिसाब से ही नई नहीं थी, उसकी बनावट भी अलग थी, क्योंकि आज़ाद की शैली में उत्तेजना और तेजस्विता थी, गोकि कभी-कभी वह फारसी पृष्ठभूमि के कारण कुछ कठिन प्रतीत होती थी। उन्होंने नए विचारों के लिए नई शब्दावली का प्रयोग किया, और उर्दू भाषा जैसी आज है, उसे यह रूप देने में उनका निश्चित योगदान था। उनमें मध्ययुगीन पंडिताऊपन, अठारहवीं शताब्दी की तार्किकता और आधुनिक दृष्टिकोण का विचित्र मेल था।

पुरानी पीढ़ी के लोगों में से भी कुछ लोग ऐसे थे जो आज़ाद के लेखन को मान्यता देते थे। उनमें से एक विद्वान मौलाना शिवली नूमानी थे, जो खुद तुर्की गए थे और अलीगढ़ कॉलिज में सर सैयद अहमद खाँ से उनका संबंध रहा था। लेकिन अलीगढ़ कॉलिज की परंपरा अलग थी और राजनीतिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से रूढ़िवादी थी। उसके ट्रस्टी नवाब और बड़े ज़मींदार थे जो सामंती व्यवस्था के ठेठ प्रतिनिधि थे। एक के बाद एक ऐसे प्रिंसिपलों के अधीन रहकर जिनका सरकारी क्षेत्रों से निकट संबंध था उसने अलगाववादी प्रवृत्ति को और राष्ट्रीयता-विरोधी और कांग्रेस-विरोधी नज़रिए को बढ़ावा दिया था। अपने विद्यार्थियों के सामने वे जो मुख्य लक्ष्य रखते थे, वह था निचले दर्जे की सरकारी नौकरी में प्रवेश करना। इसके लिए सरकार-समर्थक रवैया अनिवार्य था और राष्ट्रवाद और विद्रोह के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। अलीगढ़ कॉलिज का समुदाय अब नए मुसलमान बुद्धिजीवियों का नेतृत्व कर रहा था, और अभी-अभी प्रकट रूप से, पर अधिकतर परदे के पीछे से लगभग हर मुस्लिम आंदोलन को प्रभावित करता था। मुस्लिम लीग की स्थापना मुख्य रूप से इन्ही लोगों के प्रयास से हुई।

अबुलकलाम आज़ाद ने इस पुरातनपंथी और राष्ट्रविरोधी भावना के गढ़ पर

हमला किया। उन्होंने यह सीधे न करके ऐसे विचारों के प्रसार से किया जिन्होंने अलीगढ़ परंपरा की जड़ ही खोद दी। इस युवा लेखक और पत्रकार ने मुस्लिम बुद्धिजीवी समुदाय में सनसनी पैदा की, यद्यपि बुजुर्गों ने उन पर भौंहें चढ़ाई पर युवा पीढ़ी के दिमाग में उनके शब्दों ने उत्तेजना पैदा कर दी।

तिलक और गोखले

नेशनल कांग्रेस, जिसकी स्थापना सन् 1885 में हुई थी, जब प्रौढ़ हुई तो एक नए ढंग का नेतृत्व सामने आया। ये लोग अधिक आक्रामक और अवज्ञाकारी थे और बहुत बड़ी संख्या में निम्न मध्यवर्ग, विद्यार्थी और युवा लोगों के प्रतिनिधि थे। बंगाल-विभाजन के विरोध में जो शक्तिशाली आंदोलन हुआ था, उसमें इस प्रकार के कई योग्य और ओजस्वी नेता उभरकर आए। लेकिन इस नए युग के सच्चे प्रतीक, महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक थे। पुराने नेतृत्व के प्रतिनिधि भी एक बहुत योग्य और अपेक्षाकृत कम उम्र के मराठा सज्जन गोपाल कृष्ण गोखले थे। क्रांतिकारी नारे हवा में गूँज रहे थे, मिजाज़ गर्म थे और संघर्ष अनिवार्य था। इस संघर्ष को बचाने के लिए कांग्रेस के बुजुर्ग नेता दादा भाई नौरोजी, जिनका सब आदर करते थे और जिन्हें राष्ट्रपिता समझा जाता था, अपने अवकाश प्राप्त जीवन से वापिस लाए गए। बचाव थोड़े ही दिन के लिए हुआ और 1907 में संघर्ष हुआ जिसमें ज़ाहिर रूप में पुराने उदार दल की जीत हुई। लेकिन ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि सांगठनिक व्यवस्था पर उनका नियंत्रण था और कांग्रेस का मताधिकार बहुत संकीर्ण था। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक दृष्टि से सजग भारत की बहुसंख्यक जनता तिलक और उनके समुदाय के पक्ष में थी। कांग्रेस का महत्त्व काफ़ी कुछ घट गया था और दिलचस्पी दूसरी बात में हो गई थी। बंगाल में आतंकवादी गतिविधियाँ सामने आ रही थीं।

अध्याय 7

अंतिम दौर (2)

राष्ट्रीयता बनाम साम्राज्यवाद

मध्य वर्ग की बेबसीः गांधी का आगमन

पहला विश्व युद्ध आरंभ हुआ। राजनीति उतार पर थी। इसका कारण था कांग्रेस का तथाकथित गरम दल और नरम दल में विभाजन और युद्ध-काल में लागू किए गए नियम और प्रतिबंध।

अन्ततः विश्व युद्ध समाप्त हुआ, और शांति के परिणामस्वरूप देश में राहत और प्रगति की बजाय दमनकारी कानून और पंजाब में मार्शल लॉ लागू हुआ। जनता में अपमान की कड़वाहट और क्रोध का आवेश भर गया। ऐसे समय में जब हमारे देश के पौरुष को लगातार कुचला जा रहा था; शोषण की निर्मम और अनवरत प्रक्रिया से हमारी गरीबी बढ़ रही थी और हमारी जीवन शक्ति क्षीण हो रही थी, संवैधानिक सुधार और नौकरियों के भारतीयकरण की लगातार बातचीत जैसे मज़ाक और अपमानजनक हो गई।

लेकिन हम लाचार थे, इस दुश्चक्र को कैसे रोका जा सकता था? ऐसा लगता था कि किसी सर्वशक्तिमान राक्षस के चंगुल में फंसे हुए, हम बेबस थे, हमारे शरीर को जैसे लकवा मार गया था, हमारे दिमाग जैसे मुर्दा हो गए थे। किसान वर्ग चापलूस और भयभीत था; कारखाने के मज़दूरों की स्थिति भी बेहतर नहीं थी। मध्य वर्ग और बुद्धिजीवी लोग जो इस सर्वग्रासी अंधकार में आकाशदीप

हो सकते थे, खुद इस सर्वव्यापी उदासी में डूबे हुए थे।

और तब गांधी का आगमन हुआ। वे एक ऐसे ताज़ा हवा के झोंके की तरह आए जिसने फैलकर हमें गहरी सांस लेने के योग्य बनाया। वे आलोक की ऐसी किरण की तरह आए जिसने अंधकार को भेदकर हमारी आँखों के सामने से परदा हटा दिया। वे ऐसे बवंडर की तरह आए जिसने बहुत-सी चीजों को उलट-पुलट दिया विशेषकर लोगों के सोचने के दिमाग़ी तरीके को। वे ऊपर से अवतरित नहीं हुए थे, वे भारत की करोड़ों की आबादी के बीच से ही निकल कर आए थे। वे उन्हीं की भाषा बोलते थे और लगातार उनकी और उनकी शोचनीय स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने हमसे कहा कि इन मज़दूरों और किसानों की पीठ से उतर जाओ, तुम सब जो उनके शोषण के सहारे ज़िंदा हो उस व्यवस्था को समाप्त कर दो जो इस ग़रीबी और दुर्गति की जड़ है। राजनीतिक स्वतंत्रता ने एक नया रूप लिया और एक नया अर्थ ग्रहण किया। उन्होंने जो कुछ कहा हमने उनमें से ज़्यादातर बातों को आंशिक रूप में और कभी-कभी बिल्कुल नहीं माना। लेकिन यह एक गौण बात थी। उनकी शिक्षा का सार था - निर्भयता और सत्य और इनसे जुड़ा हुआ कर्म। वे हमेशा सामान्य जनता की खुशहाली पर नज़र रखते थे। हमारे प्राचीन ग्रंथों में कहा गया है कि किसी व्यक्ति या राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा उपहार होता है अभय (निर्भयता); केवल शारीरिक साहस नहीं बल्कि मन में भय का अभाव। हमारे इतिहास के प्रभात में ही जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था, कि जनता के नेताओं का काम उसे (जनता को) निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश शासन के अधीन सबसे प्रबल मनोवेग था भय-व्यापक, दमनकारी, दमघोटू भय, सेना का, पुलिस का, दूर-दूर तक फैले हुए खुफ़िया विभाग का भय। अफ़सरों की जमात का भय, दमन करने वाले कानूनों का और जेल का भय; जमींदार के कारिंदे का भय, साहूकार का भय, बेकारी और भुखमरी का भय, जो हमेशा करीब खड़े रहते थे। चारों तरफ़ फैले इस डर के खिलाफ ही गांधी की शांत किंतु दृढ़ आवाज़

उठीः "डरो मत।" किन्तु क्या यह इतना आसान था। नहीं। फिर भी डर के अपने प्रेत होते हैं जो सच्चाई से ज्यादा भयंकर होते हैं, और सच्चाई, यदि उसका ठंडे दिमाग से विश्लेषण किया जाए और उसके नतीजों को खुशी से स्वीकार कर लिया जाए, तो उसका बहुत-सा आतंक अपने आप समाप्त हो जाता है।

इस तरह अचानक ही लोगों के ऊपर से भय का काला लबादा उठ गया, पूरी तरह तो नहीं पर आश्चर्यजनक मात्रा में। क्योंकि भय का झूठ से नजदीक का संबंध होता है इसलिए निर्भयता के साथ सत्य अपने आप आता है, भारतीय जनता पहले की तुलना में बहुत अधिक सच्ची नहीं हो गई, और न ही उसने रातों-रात अपने बुनियादी स्वभाव को बदल लिया, फिर भी जैसे-जैसे झूठ और लुक-छिपकर काम करने की ज़रूरत कम होती गई वैसे-वैसे एक व्यापक-परिवर्तन दिखाई देने लगा। यह मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था। मानों मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के किसी विशेषज्ञ ने रोगी के अतीत में गहरी छानवीन करके उसकी ग्रंथियों के मूल कारण को खोज कर उसके सामने खोलकर रख दिया हो और उसे उस बोझ से मुक्त कर दिया हो।

गांधी ने भारत में करोड़ों लोगों को अलग-अलग मात्रा में प्रभावित किया। कुछ लोगों ने अपने जीवन की पूरी बनावट को ही बदल लिया, कुछ पर आंशिक प्रभाव पड़ा, या फिर प्रभाव मिट गया, पर पूरी तरह नहीं, क्योंकि उसका कुछ अंश पूरी तरह मिटाया नहीं जा सकता था। अलग-अलग लोगों में प्रतिक्रियाएँ भी अलग-अलग हुई और हर आदमी के पास इस सवाल का अपना अलग जवाब होगा। कुछ लोग तो शायद करीब-करीब एल्सीबियेदीज़ (सुकरात के बारे में) के शब्दों में कहें "जब से उसे बोलता हुआ सुनता हूँ तो मैं एक प्रकार के पवित्र आवेश के वशीभूत हो जाता हूँ, जो किसी कोरीबैंट की उत्तेजना से बदतर होता है। मेरा कलेजा मुँह को आ जाता है और आँखों से आँसू बहने लगते हैं—ओह! ऐसा केवल मेरे साथ ही नहीं बल्कि बहुत से और लोगों के साथ भी होता है।"

गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस सक्रिय

गांधी जी ने पहली बार कांग्रेस के संगठन में प्रवेश किया और तत्काल उसके संविधान में पूरी तरह परिवर्तन ला दिया। उन्होंने उसे लोकतांत्रिक और लोक संगठन बनाया। लोकतांत्रिक वह पहले भी था लेकिन उसमें मतदान का अधिकार संकुचित था और वह उच्च वर्ग के लोगों तक सीमित थी। अब उसमें किसानों ने प्रवेश किया और अपने नए रूप में वह एक विशाल किसान-संगठन दिखाई देने लगा, जिसमें मध्य वर्ग के लोग संख्या में छितरे हुए थे लेकिन उनका ज़ोर काफ़ी था। अब उसका यह खेतिहर चरित्र बढ़ने लगा। औद्योगिक मज़दूर भी उसमें आए लेकिन अपनी व्यक्तिगत हैसियत में, अलग से संगठित रूप में नहीं।

इस संगठन का लक्ष्य और आधार था सक्रियता। ऐसी सक्रियता जिसका आधार शांतिपूर्ण पद्धति थी। अब तक जो विकल्प थे उसमें या तो केवल बातचीत करना और प्रस्ताव पारित करना था अथवा आतंकवादी काम करना। इन दोनों तरीकों को एक तरफ़ हटा दिया गया और आतंकवाद की विशेष रूप से निंदा की गई क्योंकि वह कांग्रेस की मूल नीति के खिलाफ़ था। काम करने का एक नया तरीका निकाला गया, जो पूरी तरह शांतिपूर्ण था। लेकिन जिस बात को गलत समझा जाता था उसके आगे सिर झुकाना मंजूर नहीं किया गया। परिणामस्वरूप इस प्रक्रिया में होने वाली जो पीड़ा और कष्ट थे उन्हें खुशी से स्वीकार किया गया। गांधी जी विचित्र प्रकार के शांतिवादी थे, क्योंकि वे गतिशील ऊर्जा से भरे सक्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने न कभी भाग्य से हार मानी न ऐसी बात के सामने सिर झुकाया जिसे वे बुरा समझते थे। उनमें मुकाबला करने की भरपूर शक्ति थी गरचे वे ऐसा शांतिपूर्ण और शिष्ट ढंग से करते थे।

सक्रियता का आह्वान दोहरा था। जाहिर है कि विदेशी शासन को चुनौती देने और उसका मुकाबला करने की सक्रियता तो थी ही, अपनी खुद की सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध लड़ने की सक्रियता भी थी। कांग्रेस के बुनियादी

लक्ष्य—भारत की आज़ादी और शांतिपूर्ण सक्रियता की पद्धति के अलावा कांग्रेस के मुख्य आधार थे राष्ट्रीय एकता जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्याओं को हल करना और दलित जातियों को ऊपर उठाने के साथ छुआछूत के अभिशाप को ख़त्म करना शामिल थे।

यह समझकर कि अंग्रेजी शासन के मुख्य आधार थे डर, इज्ज़त, लोगों का मन या बेमन से दिया गया सहयोग, और कुछ ऐसे वर्ग जिनके निहित स्वार्थ ब्रिटिश शासन में केंद्रित थे। गांधी जी ने इन्हीं बुनियादों पर चोट की। उन्होंने कहा कि खिताब छोड़ देने चाहिए, अगरचे कम लोगों ने खिताब छोड़े, लेकिन अंग्रेजों द्वारा दिए गए इन खिताबों के लिए आम जनता में इज्ज़त समाप्त हो गई और ये पतन के प्रतीक बन गए। नए मापदंड और मूल्य स्थापित हुए। वायसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान-शौकत जो इतना अधिक प्रभावित करती थी, बेहद उपहासास्पद अभद्र और शर्मनाक लगने लगी, क्योंकि वह आम जनता की गरीबी और कष्टों से घिरी हुई थी। धनी लोग अपनी दौलत का प्रदर्शन करने के लिए उतने उत्सुक नहीं थे, कम-से-कम ऊपरी तौर पर उनमें से बहुतों ने सादा रहन-सहन अपना लिया, और अपनी वेशभूषा में उनमें और मामूली लोगों में कोई अंतर नहीं रह गया।

कांग्रेस के पुराने नेता, जो एक अलग और ज्यादा निष्क्रिय परंपरा में पले थे, इन नए तौर-तरीकों को आसानी से नहीं अपना सके और आम जनता की इस उठान से उन्हें परेशानी हुई। लेकिन अनुभूतियों और भावनाओं की जो हवा पूरे देश में बही वह इतनी शक्तिशाली थी, कि उन लोगों में भी उसका नशा कुछ दूर तक भर गया।

ऐसा कहा जाता है और मेरे विचार से इसमें सचाई है कि भारतीय मानस मूलतः निवृत्तिमार्गी है। शायद पुरानी जातियों का जीवन के प्रति यही रवैया बन जाता है, दर्शन की लंबी परंपरा भी इसी ओर ले जाती है। फिर भी गांधी जो

भारत की ठेठ उपज थे, इस निवृत्तिमार्ग के एकदम विपरीत थे। वे ऊर्जा और कर्म के महारथी थे, धकेलने वाले, जो अपने को ही नहीं दूसरों को भी आगे बढ़ाते हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है भारतीय जनता की निष्क्रियता के विरुद्ध संघर्ष करने और उसे बदलने के लिए जितना काम उन्होंने किया, किसी दूसरे ने नहीं किया।

उन्होंने हमें गाँवों की ओर भेजा, और कर्म के इस नए संदेश को ले जाने वाले अनगिनत दूतों की गतिविधियों से देहात में चहल-पहल मच गई। किसानों को झकझोरा गया और वे अपनी निष्क्रियता की खोल से बाहर निकल आए। हम लोगों पर प्रभाव दूसरे ढंग का था, पर इतना ही दूरगामी था, क्योंकि हमने पहली बार ग्रामीण को उसकी कच्ची झोंपड़ी में भूख की उस छाया के साथ जो हमेशा उसका पीछा करती है, निपटे देखा। हमने इन यात्राओं से भारतीय अर्थ-व्यवस्था के बारे में पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों की तुलना में अधिक जाना। जो भावात्मक अनुभव हमें पहले हो चुके थे, उन्हें बल मिला और वे पुष्ट हुए। इसलिए हमारे लिए पुरानी जीवन-पद्धति और मूल्यों की ओर वापिस लौटना संभव नहीं था, भले ही हमारे विचारों में आगे चलकर कितना भी परिवर्तन हो जाता।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधी जी के विचार बहुत सख़्त थे। उन्होंने इन सबको कांग्रेस पर लादने की कोशिश नहीं की, गरचे अपने लेखन के माध्यम से वे अपने विचारों का विकास बराबर करते रहे, और इस प्रक्रिया में कभी-कभी उन्होंने इनमें परिवर्तन भी किया। इनमें से कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में पैठाने की कोशिश की। वे सावधानी से आगे बढ़े क्योंकि वे जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। कभी-कभी वे कांग्रेस की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ जाते थे और उन्हें पीछे लौटना पड़ता था। बहुत से लोगों ने उनके सभी विचारों को स्वीकार नहीं किया, कुछ लोगों का उनके बुनियादी दृष्टिकोण से मतभेद था। लेकिन बहुत से लोगों ने उन्हें उस समय मौजूद परिस्थितियों के

अनुकूल होने के कारण उस संशोधित रूप में स्वीकार किया जिस रूप में वे कांग्रेस में आए थे। दो तरह से, उनके विचारों की पृष्ठभूमि का अस्पष्ट किंतु पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हर बात की बुनयादी कसौटी यह थी कि उससे आम जनता का भला कहाँ तक होता है, और दूसरे यह कि लक्ष्य भले ही सही हो, लेकिन साधन हमेशा महत्त्वपूर्ण होते हैं और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि साधन साध्य को निर्धारित भी करते हैं और उसमें परिवर्तन भी करते हैं।

गांधी मूलतः धर्मप्राण व्यक्ति थे। वे अपने अंतरतम की गहराइयों तक हिंदू थे, लेकिन धर्म संबंधी उनकी अवधारणा का किसी, सिद्धांत, परंपरा या कर्मकांड से कोई संबंध नहीं था। उनका बुनियादी सरोकार उन नैतिक नियमों में उनके दृढ़ विश्वास से था जिन्हें वे सत्य या प्रेम के नियम कहते थे। सत्य और अहिंसा का उनके लिए एक ही अर्थ है, या वे एक ही बात के दो पहलू हैं और वे इन शब्दों को एक ही अर्थ के लिए अदल-बदल कर इस्तेमाल करते हैं। उनका दावा था कि वे हिंदू धर्म की मूल भावना को समझते हैं। उन्होंने हर उस सिद्धांत और व्यवहार को नामंजूर किया जो उनकी आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाता था। उसे वे प्रक्षेप या बाद में जोड़ी हुई बात मानते थे। उन्होंने कहाः "मैं उन पूर्व-प्रस्तुत उदाहरणों या व्यवहार की गुलामी नहीं कर सकता जिन्हें मैं समझ नहीं सकता या नैतिक आधार पर मैं जिनकी वकालत नहीं कर सकता।" इसलिए व्यवहार में वे विशेष रूप से अपने चुने हुए रास्ते पर चलने के लिए स्वतंत्र हैं। साथ ही अपने को बदलने और उसके अनुकूल बनाने के लिए तथा जीवन और कर्म के अपने दर्शन का विकास करने के लिए भी। ऐसा करने में वे केवल नैतिक नियमों की सर्वोपरि सत्ता मानते हैं, वह भी उस रूप में जिस रूप में उन्होंने खुद उन्हें समझा है।

जीवन के अन्य पक्षों की ही तरह औसत आदमी के लिए इससे राजनीति में परेशानी और अक्सर गलतफ़हमी पैदा होती है। लेकिन कोई बाधा उन्हें अपनी

पसंद के सीधे रास्ते से नहीं हटा पाती, क्योंकि एक सीमा के भीतर वे बराबर अपने को बदलती हुई स्थिति के अनुरूप ढालते चलते हैं। ऐसे हर सुधार और सलाह को जिसे वे दूसरों को देते हैं वे सीधे पहले अपने ऊपर लागू करते हैं। वे हमेशा खुद अपने से शुरुआत करते हैं। उनकी कथनी और करनी में इतना मेल होता है जितना हाथ और दस्ताने में। इसलिए चाहे जो हो, वे कभी अपनी सत्यनिष्ठा को नहीं खोते और उनके जीवन और कर्म में एक सहज पूर्णता बराबर रहती है। प्रकट रूप से असफल होने पर भी उनकी महत्ता में वृद्धि होती दिखाई पड़ती थी।

जिस भारत को वे अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार ढालने जा रहे थे उसके बारे में उनका विचार क्या था? "मैं एक ऐसे भारत के लिए काम करूँगा जिसमें गरीब-से-गरीब व्यक्ति भी यह महसूस करेगा कि यह उसका देश है जिसके निर्माण में उसकी आवाज़ प्रभावी है। एक ऐसा भारत जिसमें लोगों के ऊँचे-नीचे वर्ग नहीं होंगे। ऐसा भारत जिसमें सब जातियाँ पूरे समभाव से रहेंगी.... .ऐसे भारत में छुआछूत या नशीली मदिरा और दवाइयों के अभिशाप के लिए कोई जगह नही होगी . . . स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार होंगे. . . . यही मेरे सपनों का भारत है।" जहाँ उन्हें अपनी हिंदू विरासत का गर्व था, वहां उन्होंने हिंदू धर्म को एक सार्वभौमिक बाना पहनाने का प्रयत्न किया और सत्य के घेरे में सब धर्मों को शामिल कर लिया। उन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत को संकीर्ण बनाने से इनकार कर दिया।

उन्होंने लिखाः "भारतीय संस्कृति न हिंदू है न इस्लाम, न पूरी तरह से कुछ और है। यह सबका मिलाजुला रूप है।" उन्होंने आगे लिखाः "मैं चाहता हूँ कि मेरे घर के पास सारे देशों की संस्कृति जितनी स्वतंत्रता से संभव हो उतनी स्वतंत्रता से फैले। लेकिन उसमें से कोई मेरे पैर उखाड़ दे, मुझे यह मंजूर नहीं। मैं दूसरों के घरों में एक अनचाहे व्यक्ति, भिखारी या गुलाम की तरह रहने को

तैयार नहीं हूँ।" आधुनिक विचारधाराओं से प्रभावित होकर उन्होंने कभी अपनी जड़ों को नहीं छोड़ा और उन्हें मज़बूती से पकड़े रखा।

इन डूबे हुए लोगों को उठाने की लगन के सामने और सभी बातों की तरह धर्म का भी उनके लिए गौण स्थान था। "एक अधभूखे राष्ट्र का न कोई धर्म हो सकता है, न कला न संगठन। करोड़ों भूखे मरते लोगों के लिए जो कुछ भी उपयोगी हो सकता है वही मेरे लिए सुंदर है। आज हम सबसे पहले ज़िंदगी की जरूरी चीज़ें दें, और उसके बाद जीवन के लिए शोभा की वस्तुएँ और अलंकार अपने आप आ जाएँगे. . . . मैं ऐसी कला और साहित्य चाहता हूँ जो करोड़ों लोगों को संबोधित हो।" ये दुखी साधनहीन करोड़ों लोग लगातार उनके मन पर छाए रहते थे और हर चीज़ उनके चारों ओर घूमती दिखाई पड़ती थी। "करोड़ों लोगों के लिए यह शाश्वत पहरेदारी है या शाश्वत मूर्च्छा है।" उन्होंने कहा, मेरी आकांक्षा है "हर आँख से हर आँसू को पोंछ लेना।"

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस अद्‌भुत रूप से तेजस्वी आदमी ने जिसमें आत्मविश्वास और असाधारण शक्ति भरी हुई है, जो हर व्यक्ति की समानता और स्वतंत्रता के लिए खड़ा है, लेकिन जिसका पैमाना सबसे गरीब आदमी है, भारत की सामान्य जनता को सम्मोहित कर लिया और उन्हें चुंबक की तरह आकर्षित किया। वे उनको अतीत के साथ भविष्य को जोड़ने वाली कड़ी की तरह जान पड़े जिसमें निराशामय वर्तमान उस जीवन और आशा भरे भविष्य के लिए सीढ़ी भर मालूम होता था। केवल आम जनता ही नहीं बल्कि बुद्धिजीवी और दूसरे लोगों की भी यही स्थिति थी लेकिन उनके दिमाग में बेचैनी और उलझन भरी रहती थी और उन्हें जीवन भर की आदतों में परिवर्तन करना ज़्यादा मुश्किल मालूम होता था। इसलिए उन्होंने केवल अपने अनुयायियों में ही नहीं, बल्कि अपने विरोधियों में भी और उन तमाम तटस्थ लोगों में जो इस बारे

में निश्चय नहीं कर पाते थे कि क्या सोचना और क्या करना है, एक मनोवैज्ञानिक क्रांति पैदा की।

कांग्रेस पर गांधी जी का प्रभुत्व था, लेकिन यह ख़ास किस्म का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस एक सक्रिय, विद्रोही अनेक पक्षीय संगठन था जिसमें तरह तरह की राय होती थी और उसे आसानी से इधर-उधर नहीं ले जाया जा सकता था। गांधी जी अक्सर दूसरों की इच्छा के सामने झुक जाते थे। कभी-कभी वे अपने विरुद्ध फ़ैसलों को भी स्वीकार कर लेते थे।

इस तरह सन् 1920 में नेशनल कांग्रेस ने, और काफ़ी हद तक देश ने इस नए, अनखोजे रास्ते को अपनाया और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ बार-बार संघर्ष किया।

एक के बाद दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन हुआ और उसके कारण बहुत कष्ट उठाने पड़े, लेकिन इन मुसीबतों को चूंकि खुद आमंत्रित किया गया था इसलिए उनसे शक्ति ही मिली। लेकिन ये मुसीबतें ऐसी नहीं थी जो अनिच्छुक लोगों पर हावी हो जाती हैं और परिणाम होता है निराशा और पराजय।

जब सविनय अवज्ञा आंदोलन जारी नहीं था, तब भी भारत में ब्रिटिश सरकारी तंत्र से असहयोग जारी था, गरचे उसका आक्रामक चरित्र समाप्त हो गया था।

अल्पसंख्यकों की समस्याः मुस्लिम लीगः मोहम्मद अली जिन्ना

जिसे सांप्रदायिक समस्या कहा जाता था, वह अल्पसंख्यकों के अधिकारों के साथ इस तरह तालमेल बैठाना था ताकि उन्हें बहुसंख्यकों के खिलाफ़ पर्याप्त संरक्षण मिल सके। यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत के अल्पसंख्यक यूरोप की तरह जातीय या राष्ट्रीय अल्पसंख्यक नहीं है, वे धार्मिक अल्पसंख्यक हैं। जातीय दृष्टि से भारत में एक विचित्र मिश्रण है, पर जातीय सवाल भारत में न कभी

उठे हैं न उठ सकते हैं। धर्म इन जातीय विभिन्नताओं के ऊपर है, जो या तो एक दूसरे में मिल जाती है या उनमें अंतर करना कठिन होता है। ज़ाहिर है कि धार्मिक दीवारें स्थायी नहीं होतीं, और जो व्यक्ति अपना धर्म बदलता है उसकी जातीय पृष्ठभूमि या उसकी जातीय और भाषिक विरासत नष्ट नहीं हो जाती। इसके अलावा शब्द के सही अर्थ में भारत के राजनीतिक संघर्षों में धर्म की बहुत कम भूमिका रही है, यह बात अलग है कि इस शब्द का प्रायः काफ़ी प्रयोग किया जाता है और नाजायज़ फ़ायदा उठाया जाता है। धार्मिक मतभेदों से अपने आप में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि उनमें एक दूसरे के प्रति बहुत सहनशीलता है। राजनीतिक मामलों में, धर्म का स्थान सांप्रदायिकता ने ले लिया है। यह एक संकीर्ण समुदाय होता है जो मानसिक रूप से अपना आधार किसी धार्मिक वर्ग को बनाता है किंतु वास्तव में उसकी दिलचस्पी राजनीतिक शक्ति और अपने समुदाय को बढ़ावा देने में होती है।

कांग्रेस सांप्रदायिक हल निकालने के लिए बहुत उत्सुक और चिंतित थी ताकि प्रगति के मार्ग की रुकावट को दूर किया जा सके। जो संगठन पूरी तरह सांप्रदायिक थे, उनमें ऐसी कोई उत्सुकता नहीं थी, क्योंकि उनके अस्तित्व का मुख्य कारण अपने-अपने गुटों की विशेष प्रकार की माँगों पर बल देना था और इसलिए यथास्थिति बनाए रखने में उनके निहित स्वार्थ थे। कांग्रेस की सदस्य संख्या में मुख्य रूप से यद्यपि हिंदू थे लेकिन उनमें बड़ी संख्या में मुसलमानों के अलावा दूसरे तमाम धर्मों के लोग जैसे सिख, ईसाई आदि भी शामिल थे। इसलिए राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना उसकी मजबूरी थी। उसके लिए सबसे बड़ी समस्या थी राष्ट्रीय स्वाधीनता और एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना। उसको यह बात समझ में आ गई थी कि अगर ऐसा होना संभव भी हो तो भी भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश के लिए सीधे सरल ढंग के लोकतंत्र की स्थापना न संतोषप्रद होगी और न वांछित होगी। ऐसा लोकतंत्र

जिसमें बहुसंख्यक वर्ग को इस बात का पूरा अधिकार मिल जाए कि वह सभी मामलों में अल्पसंख्यकों को नियंत्रित करके उन पर शासन करे। कांग्रेस निस्संदेह एका चाहती थी, और उसे मानकर चलती थी, पर उसे ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता था जिसकी वजह से भारत के सांस्कृतिक जीवन की संपन्नता और विविधता को सिर्फ एक साँचे में कस दिया जाए। इसलिए काफ़ी दूर तक प्रादेशिक स्वायत्तता स्वीकार कर ली गई, और विभिन्न समुदायों की स्वतंत्रता और सांस्कृतिक विकास की सुरक्षा के तरीकों पर भी सहमति हो गई।

दो बुनियादी प्रश्नों पर कांग्रेस अडिग रही : राष्ट्रीय एकता और लोकतंत्र। ये ऐसी बुनियादें थीं जिन पर उसकी स्थापना हुई थी और आधी शताब्दी तक अपने विकास के समय वह इन पर बराबर बल देती रही थी।

गुज़रे ज़माने में, कम-से-कम सिद्धांत में, ब्रिटिश सरकार ने भी भारतीय एकता और लोकतंत्र का समर्थन किया था। लेकिन विचित्र बात है कि उसकी नीतियाँ हमें सीधे उस दिशा में ले गई जहाँ इन दोनों का ही अस्वीकार था। अगस्त 1940 ई. में कांग्रेस ने मजबूर होकर घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति ''जनजीवन में संघर्ष और फूट को प्रत्यक्ष रूप से उकसाती और भड़काती है। ब्रिटिश सरकार के ज़िम्मेदार लोग खुल्लमखुल्ला हमसे यह कहने लगे कि शायद किसी नई व्यवस्था के पक्ष में भारत की एकता की बलि चढ़ानी पड़े और यह भी कि भारत के लिए लोकतंत्र ठीक नहीं है।

हम सांप्रदायिक समस्या का कोई ऐसा हल न ढूँढ सके जो सब पार्टियों को मंजूर हो। चूँकि इस प्रयत्न में असफल होने के परिणाम हमको भोगने हैं इसलिए हम इस बात के दोष से बच नहीं सकते। लेकिन किसी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव या परिवर्तन के लिए कोई सबको कैसे राज़ी कर सकता है।

यह साफ ज़ाहिर है कि भारत में बहुत से सामंती और प्रतिक्रियावादी समुदाय हैं, इनमें कुछ यहाँ की ज़मीन की उपज हैं और कुछ को जन्म देकर

उनका पोषण अंग्रेजों ने किया है। संख्या की दृष्टि से वे भले ही कम हों, लेकिन उनके पास ब्रिटिश सत्ता की मदद है।

बीते हुए दिनों में मुस्लिम लीग का सांप्रदायिक रुख अक्सर कठिन और अनुचित रहता था, लेकिन हिंदू महासभा का रुख भी कुछ कम अनुचित नहीं था। पंजाब और सिंध में अल्पसंख्यक हिंदू और वहाँ के शक्तिशाली सिख समुदाय अक्सर समझौते के मार्ग में बाधा देते रहे। अंग्रेजों की नीति इन मतभेदों को प्रोत्साहित करके उन पर बल देने की और सांप्रदायिक संगठनों को कांग्रेस के विरुद्ध महत्त्व देने की रही।

मिस्टर जिन्ना की माँग का आधार एक नया सिद्धांत था, जिसकी उन्होंने हाल ही में घोषणा की थी-- कि भारत में दो राष्ट्र हैं, हिंदू और मुसलमान। दो ही क्यों? मैं नहीं जानता, क्योंकि अगर राष्ट्रीयता का आधार धर्म है, तब तो भारत में बहुत से राष्ट्र हैं। राष्ट्र क्या है, इसकी परिभाषा करना कठिन है। शायद राष्ट्रीय चेतना की अनिवार्य विशेषता है एक दूसरे से जुड़े होने की और एकजुट होकर शेष सारी दुनिया का सामना करने की भावना। भारत में कुल मिलाकर यह बात कहाँ तक मौजूद है, यह एक विवादास्पद बात है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि अतीत में भारत का विकास एक बहुराष्ट्रीय राज्य के रूप में हुआ और उसमें राष्ट्रीय चेतना धीरे-धीरे आई।

मिस्टर जिन्ना के दो राष्ट्रों के सिद्धांत से पाकिस्तान का या भारत के विभाजन की अवधारणा का विकास हुआ। लेकिन उससे ''दो-राष्ट्रों'' की समस्या का हल नहीं हुआ, क्योंकि वे तो पूरे देश में थे।

अध्याय 8

तनाव

भारत में तनाव सन् 1942 के शुरू के महीनों में बढ़ा। युद्ध का मंच लगातार निकट आता जा रहा था और भारत के शहरों पर हवाई हमलों की संभावना पैदा हो गई थी। जिन पूर्वी देशों में युद्ध जोरों पर था, वहाँ क्या होगा? भारत और इंग्लैंड के बीच संबंधों में क्या नया अंतर आएगा? क्या हम एक दूसरे की तरफ़ मुड़ते हुए, पुराने ढंग से ही चलते रहेंगे? पिछले इतिहास की कड़वी स्मृतियों से बंधे हुए और एक दूसरे से कटे हुए हम उसी दुर्भाग्य के शिकार बने रहेंगे, जिसे कोई नहीं मिटा सकता? या दोनों के लिए एक से खतरे हमारे बीच की खाई को पार सकेंगे?

चुनौती : "भारत छोड़ो" प्रस्ताव

बंबई में 7 और 8 अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने खुली सभा में उस प्रस्ताव पर विचार किया और बहस की जो अब "भारत छोड़ो प्रस्ताव" नाम से जाना जाता है। यह एक लंबा और विशद प्रस्ताव था—भारत में अंग्रेजी राज्य की समाप्ति और भारत की स्वतंत्रता की फ़ौरन मंजूरी के लिए उसमें तर्कसम्मत दलील पेश गई थी। "भारत के लिए और संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य की सफलता के लिए" प्रस्ताव में आगे अंतरिम सरकार बनाने का सुझाव दिया गया था। ऐसी सरकार जो मिली-जुली हो और जिसमें सभी महत्त्वपूर्ण वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व हो और जिसका पहला काम होगा मित्र शक्तियों के सहयोग से भारत की सुरक्षा और अपनी सारी सशस्त्र और अहिंसक शक्तियों के साथ बाहरी हमले को रोकना। "यह

सरकार एक संविधान-सभा की योजना तैयार करेगी जो भारत के लिए ऐसा संविधान बनाएगी जो जनता के सभी वर्गों को मान्य होगा। यह संविधान संघीय होगा। संघ में शामिल होने वाले हिस्सों को अधिक-से-अधिक स्वायत्तता होगी और कुछ विशेष बातों को छोड़कर शेष अधिकार उन हिस्सों को होंगे।

कमेटी ने "संसार की आज़ादी के लिए ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र से फिर अपील की। लेकिन--(और यही प्रस्ताव की चोट थी)" अब साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी सरकार के विरुद्ध अपने अधिकार के लिए दबाव डालने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को रोकना कमेटी के लिए और न्यायसंगत नहीं होगा। ऐसी सरकार जो उस पर शासन करती है और उसे अपने और मानवजाति के हित में काम करने से रोकती है। इसलिए भारत के स्वाधीनता के अहस्तांतरणीय अधिकार की पुष्टि के लिए कमेटी इस बात की स्वीकृति देना तय करती है कि गांधी जी के अपरिहार्य नेतृत्व में अहिंसात्मक ढंग से एक जन-आंदोलन शुरू किया जाए। यह स्वीकृति उसी समय लागू होती जब गांधी जी ऐसा निर्णय लेते। अंत में कहा गया कि कमेटी "कांग्रेस के लिए शक्ति हासिल करना नहीं चाहती। ताकत जब भी आएगी तो वह भारत की सारी जनता की होगी।"

अपने समापन भाषणों में कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और गांधी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अगला कदम होगा, ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि, वायसराय से मुलाकात करना, और खास संयुक्त राष्ट्रों के मुख्याधिकारियों से एक सम्मानपूर्ण समझौते के लिए अपील करना। ऐसा समझौता जिसमें भारत की स्वाधीनता को स्वीकार करने के साथ-साथ आक्रामक धुरी शक्तियों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रों के संघर्ष को भी बढ़ावा मिलेगा।

8 अगस्त सन् 1942 को काफ़ी रात गए यह प्रस्ताव अन्ततः पास हो गया। कुछ घंटे बाद, 9 अगस्त की सुबह-सुबह बंबई में और पूरे देश में अनेक स्थानों पर बहुत सी गिरफ़्तारियाँ हुईं और इस तरह हम अहमदनगर के क़िले में आए।

अध्याय 9

दो पृष्ठभूमियाँ : भारतीय और अंग्रेज़ी

भारत में अगस्त सन् 1942 में जो कुछ हुआ, वह आकस्मिक नहीं था। वह पहले से जो बहुत कुछ होता आ रहा था उसकी चरम परिणति थी। इसके बारे में आक्षेप, आलोचना और सफ़ाई के रूप में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, और बहुत सफ़ाई दी जा चुकी है। फिर भी इस लेखन में से असली बात गायब है, क्योंकि इनमें एक ऐसी चीज़ को केवल राजनीतिक पहलू से देखा गया है, जो राजनीति से कहीं अधिक गहरी थी। इन सबके पीछे यह तीव्र भावना थी कि निरंकुश विदेशी शासन के दबाव में अब और रहना या उसे झेलना संभव नहीं है। इसके सामने और सारे सवाल गौण हो गए। ऐसे सवाल कि इस राज्य में किसी दिशा में किसी तरह का सुधार या विकास संभव है, या कि चुनौती का परिणाम और भी अधिक हानिकर तो नहीं होगा? केवल इस शासन से छुटकारा पाने की ज़बरदस्त इच्छा शेष थी, और इस छुटकारे के लिए कोई भी कीमत चुकाई जा सकती थी। केवल यह भावना बच रही थी कि चाहे कुछ हो जाए। यह राज्य अब बर्दाश्त नहीं किया जा सकता।

व्यापक उथल-पुथल और उसका दमन

जनता की ओर से अकस्मात असंगठित प्रदर्शन और विस्फोट, जिनका अंत हिंसात्मक संघर्ष और तोड़-फोड़ में होता था, ज़बरदस्त और शक्तिशाली हथियारबंद सेनाओं के विरुद्ध भी लगातार चलते रहे। इनसे जनता की भावनाओं की तीव्रता

का पता लगता है। यह भावना उनके नेताओं की गिरफ़्तारी से पहले भी थी लेकिन इन गिरफ़्तारियों और उसके बाद अक्सर होने वाले गोलीकांड ने जनता के क्रोध को भड़का दिया और उसने वही मार्ग अपनाया जो एक क्रुद्ध भीड़ अपना सकती है। कुछ समय तक इस बारे में अनिश्चितता-सी रही कि क्या किया जाए। न कोई निर्देश था, न कार्यक्रम। कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं था जो उनका नेतृत्व करता या उन्हें यह बताता कि क्या करना चाहिए, लेकिन वे इतने क्रुद्ध और उत्तेजित थे कि चुप नहीं बैठ सकते थे। जैसा अक्सर ऐसी परिस्थितियों में होता है, स्थानीय नेता सामने आए और कुछ समय के लिए उनका अनुसरण किया गया। लेकिन उन्होंने भी जो निर्देश दिए वे काफ़ी नहीं थे। अपने मूल रूप में यह एक सहज जनांदोलन था। पूरे भारत में 1942 ई. में युवा पीढ़ी ने, विशेष रूप से विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने हिंसक और शांतिपूर्ण दोनों तरह की कार्यवाहियों में बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया।

इस तरह 1857 के गदर के बाद, पहली बार, भारत में ब्रिटिश राज के ढाँचे को बलपूर्वक चुनौती देने के लिए (लेकिन यह बल निहत्था था) बहुत बड़ी जनसंख्या उठ खड़ी हुई। यह चुनौती मूर्खतापूर्ण और बेमौके थी, क्योंकि दूसरी ओर सुसंगठित हथियारबंद सैनिक शक्ति थी। यह सैनिक शक्ति इतिहास में पहले किसी अवसर की तुलना में कहीं अधिक थी। भीड़ में, आदमियों की संख्या चाहे जितनी बड़ी हो, लेकिन हथियारबंद सेना की शक्ति के विरुद्ध द्वन्द्व में वह नहीं ठहर सकती। जब तक सेनाओं की राजभक्ति में ही परिवर्तन नहीं हो जाता इस भीड़ को असफल होना ही था। लेकिन उस भीड़ ने न तो इस द्वन्द्व की तैयारी ही की थी और न ही इसके लिए समय का चुनाव खुद किया था। यह स्थिति उनके सामने अनजाने ही आ गई थी, और उन्होंने तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में चाहे वह प्रतिक्रिया कितनी नासमझी से भरी या ग़लत रही हो, लेकिन उससे

भारत की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने अपने प्रेम और विदेशी शासन के विरुद्ध अपनी घृणा को प्रकट किया।

सन् 1942 के दंगों में पुलिस और सेना की गोलीबारी से मारे गए और घायल हुए लोगों की संख्या के अनुमानित सरकारी आँकड़े के अनुसार 1028 मरे और 3,200 घायल हुए। यह आँकड़े निश्चय ही बहुत घटाकर दर्ज़ किए गए हैं क्योंकि सरकारी बयानों के अनुसार ही 538 मौकों पर यह गोली चली, और इसके अलावा पुलिस और सेना की गश्ती लारियाँ अक्सर लोगों पर गोलियाँ चला देती थीं। करीब-करीब सही संख्या पर पहुँचना बहुत कठिन हैं। जनता के अंदाज के अनुसार मृतकों की संख्या 25,000 कही जाती है, पर यह संख्या भी संभवतः अतिरंजित है। शायद 10,000 की संख्या ज़्यादा सही होगी।

यह असाधारण बात थी कि कैसे बहुत से शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में ब्रिटिश शासन ख़त्म हो गया, और उन हिस्सों पर "दुबारा विजय पाने में" (आमतौर पर उसे यही कहा जाता है) उसे कई दिन और कभी-कभी हफ्ते लग गए। ऐसा विशेष रूप से बिहार में, बंगाल के मिदनापुर ज़िले में और संयुक्त-प्रांत के दक्षिण-पूर्वी ज़िलों में हुआ। यह बात ध्यान देने की है कि संयुक्त-प्रांत के बलिया ज़िले में (जिसे दुबारा जीतना पड़ा था) जैसा कि बाद में विशेष अदालतों द्वारा चलाए गए बहुत से मुकदमों से ज़ाहिर होता है, भीड़ के खिलाफ़ शारीरिक हिंसा या लोगों को चोट पहुँचाने की कोई गंभीर शिकायत नहीं है।

भारत की बीमारी : अकाल

भारत बहुत बीमार था, तन और मन दोनों से। जबकि लड़ाई में कुछ लोग बहुत फूले-फले थे, दूसरों पर बोझ चरम सीमा तक पहुँच गया था और इसकी भयानक स्मृति दिलाने के लिए अकाल पड़ा, दूर-दूर तक विस्तृत अकाल जिसका प्रभाव बंगाल और पूर्वी तथा दक्षिणी भारत पर पड़ा। ब्रिटिश शासन के पिछले

170 वर्षों में यह सबसे बड़ा और विनाशकारी अकाल था। इसकी तुलना 1766 ई. से 1770 ई. के दौरान बंगाल और बिहार के उन भयंकर अकालों से की जा सकती है जो ब्रिटिश शासन की स्थापना के आरंभिक परिणाम थे। इसके बाद महामारी फैली, विशेषकर हैज़ा और मलेरिया। वह दूसरे सूबों में भी फैल गई और आज भी हज़ारों की संख्या में लोग उसके शिकार हो रहे हैं। लाखों आदमी अकाल और बीमारी से मर चुके हैं फिर भी वह दृश्य भारत पर मँडरा रहा है और लोगों की जानें ले रहा है।

इस अकाल ने ऊपर के थोड़े से लोगों की खुशहाली के झीने आवरण के नीचे भारत की जो तस्वीर थी उसे उघाड़ कर रख दिया। यह तस्वीर ब्रिटिश शासन की बदहाली और बदसूरती की तस्वीर थी। यह भारत में ब्रिटिश शासन की पराकाष्ठा और पूर्ति थी।

जब यह सब घटित हो रहा था और कलकत्ते की सड़कों पर लाशें बिछी थीं, कलकत्ते के ऊपरी तबके के दस हज़ार लोगों के सामाजिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया था। नाच-गाने और दावतों में विलासिता का प्रदर्शन हो रहा था, और जीवन उल्लास से भरा था।

अक्सर कहा जाता है कि भारत अंतर्विरोधों का देश है। कुछ लोग बहुत धनवान हैं और बहुत से लोग बहुत निर्धन हैं, यहाँ आधुनिकता भी है और मध्ययुगीनता भी। यहाँ शासक है और शासित हैं, ब्रिटिश हैं और भारतीय हैं। ये अंतर्विरोध सन् 1943 के उत्तरार्द्ध में अकाल के उन भयंकर दिनों में जैसे कलकत्ता शहर में दिखाई पड़े, वैसे पहले कभी नज़र नहीं आए थे।

हालाँकि अकाल निस्संदेह लड़ाई की स्थिति के कारण पड़ा था और उसे रोका जा सकता था, लेकिन यह बात भी उतनी ही सही है कि उसकी ज़्यादा गहरी वजह उस बुनियादी नीति में थी जो भारत को दिनोदिन गरीब बनाती जा रही थी और जिसके कारण लाखों लोग भुखमरी का जीवन जी रहे थे।

भारत में ब्रिटिश शासन पर बंगाल की भयंकर बर्बादी ने और उड़ीसा मालाबार और दूसरे स्थानों पर पड़ने वाले अकाल ने आखिरी फ़ैसला दे दिया। अंग्रेज़ निश्चय ही भारत छोड़ेंगे, और उनके भारतीय साम्राज्य की याद भर रह जाएगी, पर जब वे जाएँगे, तो वे क्या छोड़ेंगे—कितना मानवीय पतन और संचित दुख? तीन वर्ष पहले मृत्यु शैय्या पर पड़े टैगोर—के सामने यह चित्र उभरा था; "लेकिन वे कैसा भारत छोड़ेंगें? कितनी नग्न दुर्गति? अंत में उनके सदियों पुराने प्रशासन की धारा सूख जाएगी तो वे अपने पीछे कितनी कीचड़ और कचरा छोड़ेंगे।

भारत की सजीव सामर्थ्य

अकाल और युद्ध के बावजूद, अपने जन्मजात अंतर्विरोधों से पूर्ण और उन्हीं अंतर्विरोधों और उनके परिणामस्वरूप होने वाले विनाशों से पोषण पाती हुई जीवनधारा बराबर चलती रहती है। प्रकृति अपना कायाकल्प करती है और कल के लड़ाई के मैदान को आज फूलों और हरी घास से ढक देती है, और जो खून कल बहा था वह अब धरती को सींचता है और नए जीवन को शक्ति और रूप-रंग देता है। मनुष्य, जिसके पास स्मृति का विलक्षण गुण होता है, कहानियों और यादों से निर्मित अतीत में बसता है। वह शायद ही कभी उस वर्तमान को पकड़ने का प्रयास करता हो, "जिसकी दुनिया रोज नई हो जाती है।" और यह वर्तमान, इससे पहले कि हमें उसका बोध हो, अतीत में खिसक जाता है। आज जो बीते हुए कल की संतान है, खुद अपनी जगह अपनी संतान, आने वाले कल को दे जाता है। द्रुतगामी विजय का अंत खून और दलदल में होता है, और जो पराजय दिखाई पड़ती है उसकी कड़ी परीक्षा में से नई शक्ति और व्यापक दृष्टि से सम्पन्न चेतना पैदा होती है। कमज़ोर आत्मा वाले समर्पण कर देते हैं और वे हटा दिए जाते हैं, लेकिन बाकी लोग मशाल को आगे ले चलते हैं और आने वाले कल के मार्ग-दर्शकों को सौंप देते हैं।

उपसंहार

भारत की खोज-मैंने क्या खोज पाया है? यह कल्पना करना कि मैं उसका परदा हटाकर यह देख सकूँगा कि वह अपने वर्तमान रूप में क्या है और उसका लंबा अतीत क्या रहा होगा, मेरी अनधिकार चेष्टा थी। आज, उसके चालीस करोड़ अलग-अलग स्त्री-पुरुष हैं जिनमें से हर एक व्यक्ति दूसरे से अलग है। इनमें से हर व्यक्ति भाव और विचार की एक निजी दुनिया में रहता है। जब वर्तमान समय में यह स्थिति है, तो उस बहुसंख्यक अतीत को समझना और भी कठिन होगा जिसमें मनुष्य की अनगिनत पीढ़ियों की कहानी है। फिर भी कुछ ऐसा है जिसने उन्हें बांधे रखा है और उन्हें आज भी बांधे है। भारत एक भौगोलिक और आर्थिक सत्ता है, उसकी विभिन्नता में सांस्कृतिक एकता है। वह विरुद्धों का एक ऐसा पुंज है जो मज़बूत और अदृश्य सूत्रों से बंधा है। बार-बार आक्रमणों के बावजूद उसकी आत्मा कभी जीती नहीं जा सकी और आज भी जब वह एक अहंकारी विजेता का खिलौना मालूम होता है वह अदम्य है, अपराजेय है। पुरानी किंवदंती की तरह उसमें पकड़ में न आने वाली एक विशेषता है, ऐसा लगता है जैसे उसका मन किसी सम्मोहन से बंधा है। वह एक मिथक है और एक विचार है। एक स्वप्न है और एक कल्पनाचित्र है। फिर भी वह एकदम वास्तविक है, मौजूद है और व्यापक है। कुछ अँधियारे गलियारों की भयावह झलकियाँ आदिम रातों की ओर वापिस लौटाती लगती हैं परंतु साथ ही उसके भरे पूरे और ऊष्मा भरे दिन भी हैं। कभी-कभी उसे शर्म महसूस होती है या पश्चाताप होता है, कभी वह दुराग्रही और ज़िद्दी होती है। यहाँ तक कि उसमें

एक उन्माद दिखाई पड़ता है, ऐसा है अतीत इस महिला का। लेकिन वह अत्यंत प्रीतिकर है, और उसके बच्चे चाहे वे कहीं भी चले जाएँ, और चाहे भाग्य उनके साथ जैसा व्यवहार करे, वे उसे कभी नहीं भुला सकते। वह अपनी महानता और असफलता दोनों में उनका एक अंश है, और उसकी गहरी आँखों में उनका दर्पण हैं। वे आँखें जिन्होंने जीवन के आवेग, उल्लास और भूलों को देखा है और ज्ञान-कूप की गहराई में झाँका है। उनमें से हर एक उसकी ओर आकर्षित होता है, लेकिन शायद हर एक के इस आकर्षण का कारण अलग-अलग है, या इस आकर्षण का कोई विशेष कारण ही नहीं है, और हर एक को उसके बहुपक्षीय व्यक्तित्व का एक अलग पहलू दिखाई पड़ता है। एक युग के बाद दूसरे युग में उसने महान स्त्री पुरुषों को जन्म दिया है जो पुरानी परंपरा को लेकर चले हैं और उसे बदलते हुए समय के अनुरूप ढालते भी रहे हैं। उस महान परंपरा में रवींद्रनाथ टैगोर हुए जो आधुनिक युग की प्रकृति और प्रवृत्तियों से सराबोर थे लेकिन उनकी नींव भारत के अतीत में थी। उन्होंने अपने व्यक्तित्व में प्राचीन और नवीन का समन्वय किया था। उन्होंने कहा था, "मैं भारत से प्रेम करता हूँ। इसलिए नहीं कि मैं उसके भौगोलिक आकार की उपासना करता हूँ, न इसलिए कि संयोग से मेरा जन्म उसकी मिट्टी पर हुआ है बल्कि इसलिए कि उसने अपनी महान संतानों की आलोकमयी चेतना से निकले हुए सजीव शब्दों को समय की उथल-पुथल के बीच भी सुरक्षित रखा है।" बहुत से लोग यही बात कहेंगे, जबकि कुछ और लोग उसके प्रति अपने प्रेम की व्याख्या दूसरे ढंग से करेंगे।

ऐसा लगता है जैसे पुराना जादू अब टूट रहा है और वह चारों ओर देखती हुई वर्तमान के प्रति जागरूक हो रही है। उसमें परिवर्तन होगा, और यह परिवर्तन जरूरी है, फिर भी वह पुराना सम्मोहन बना रहेगा और उसकी जनता के हृदयों को बाँधे रखेगा। चाहे उसकी वेशभूषा बदल जाए, लेकिन वह ज्यों-की-त्यों रहेगी,

और उसका ज्ञान-भंडार, इस कठोर, प्रतिशोधी और लोभी दुनिया में जो कुछ सत्य और सुंदर है उसे अपनाए रखने में उसकी सहायता करेगा।

100 वर्ष पहले, इमर्सन ने अमरीका में अपने देशवासियों को चेतावनी दी थी कि वे सांस्कृतिक दृष्टि से न यूरोप का अनुकरण करें न उस पर बहुत अधिक निर्भर रहें। एक नई कौम होने के नाते वह चाहता था कि वे लोग अपने यूरोपीय अतीत की ओर देखने की बजाय अपने नए देश के समृद्ध जीवन से प्रेरणा लें।

हमें भारत में अतीत और सुदूर की खोज में देश के बाहर नहीं जाना है। हमारे अपने पास उसकी बहुतायत है। अगर हम विदेशों में जाते हैं तो केवल वर्तमान की तलाश में। यह तलाश ज़रूरी है, क्योंकि उससे अलग रहने का अर्थ है पिछड़ापन और क्षय। इमर्सन के समय का संसार बदल गया है और पुरानी दीवारें टूट रही हैं, जीवन अधिक अंतर्राष्ट्रीय होता जा रहा है। इस आने वाले अंतर्राष्ट्रीयतावाद में हमें अपनी भूमिका निभानी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें यात्राएँ करनी हैं, औरों से मिलना है, उनसे सीखना है और उन्हें समझना है लेकिन सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता कोई ऐसी हवाई चीज़ नहीं है जिसकी न कोई बुनियाद हो और न लंगरगाह। उसे राष्ट्रीय संस्कृतियों से बाहर निकलना है और आज वह स्वतंत्रता, समानता और सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता के आधार पर ही उन्नति कर सकती है।

हम किसी मामूली देश के नागरिक नहीं हैं, और हमें जन्मभूमि पर, अपने देशवासियों पर, अपनी संस्कृति और परंपराओं पर गर्व है। यह गर्व किसी ऐसे रोमांचक अतीत के लिए नहीं होना चाहिए जिससे हम चिपटे रहना चाहते हैं, न ही इससे अनन्यता को बढ़ावा मिलना चाहिए और ना ही हमारे ढंग से भिन्न औरों के ढंग को समझने में इससे कोई कठिनाई होनी चाहिए। इसके कारण हमें अपनी कमज़ोरियों और असफलताओं को भी कभी नहीं भूलना चाहिए और न ही

उनसे छुटकारा पाने की हमारी इच्छा कुंठित होनी चाहिए। इससे पहले कि हम मानवीय सभ्यता और प्रगति की गाड़ी में औरों के साथ अपनी सही जगह ले सकें, हमें अभी बहुत लंबा सफर तय करना है और बहुत-सी कमी को पूरा करना है। और हमें जल्दी करनी है, क्योंकि हमारे पास समय सीमित है और दुनिया की रफ़्तार लगातार तेज़ी से बढ़ती जा रही है। अतीत में भारत दूसरी संस्कृतियों का स्वागत करके उन्हें आत्मसात कर लेता था। आज इस बात की कहीं अधिक आवश्यकता है, क्योंकि हम भविष्य की उस "एक दुनिया" की तरफ़ बढ़ रहे हैं जहाँ राष्ट्रीय संस्कृतियाँ मानव जाति की अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में घुलमिल जाएँगी। इसलिए हमें जहाँ भी समझदारी, ज्ञान, मित्रता और सहयोग मिलेगा हम वहीं उसकी तलाश करेंगे, और हम सामूहिक कामों में सबके साथ सहयोग करेंगे, लेकिन हम दूसरों की कृपा और सहारे के प्रार्थी नहीं हैं। इस तरह हम सच्चे भारतीय और एशियाई होंगे और साथ ही अच्छे अंतर्राष्ट्रीयतावादी और विश्व नागरिक होंगे।

●